स्वाभाविक गुण विकसित होते जाते है, त्यो-त्यो आत्मा अपने असली स्वरूप को प्राप्त करती जाती है। यही आत्मा को परमात्मदशा की प्राप्ति हो जाना है।

कुछ व्यक्तियों का यह भी कथन है कि मोह, ममता तथा विकारो से जब आत्मा सर्वदा रहित हो जाती है तो वह ब्रह्म अर्थात् परमात्मा मे विलीन हो जाती है और उसकी अपनी स्वतत्र सत्ता नही रह जाती।

जैन दर्शन इस सिद्धान्त को भी नही मानता। उसका कथन यह है कि प्रत्येक आत्मा की अपनी पृथक् सत्ता है अर्थात् वह सत् है इसलिये वह असत् नही हो सकती —

"नासतो विद्यते भावो नाभावो जायते सत ।"

अर्थात् असत् सत् नही होता और सत् असत् नही हो सकता। अगर आत्मा असत् हो जाय तो फिर अपने को शून्य बनाने के लिए कौन साधना और पुरुषार्थ करे ?

जैन दर्शन स्पष्ट कहता है कि आत्मा दृढ साधना के द्वारा विकारो से रहित होकर सर्वज्ञता प्राप्त कर लेता है और तत्पश्चात् अपनी स्वतत्रता कायम रखते हुए अनन्त चैतन्यमय होकर रहता है।

अब हमे यह देखना है कि किस प्रकार की साधना के द्वारा आत्मा परमात्म-दशा को प्राप्त कर सकती है ? इस विषय मे जैन शास्त्रो मे अत्यन्त विशद वर्णन है।

सर्वप्रथम तो यह आवश्यक है कि साधक अपने आप को जाने, अपनी आत्मा की शक्ति को पहचाने, उस के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करे। आत्म-स्वरूप के ज्ञान से ही साधना का प्रारम्भ होता है। प्राय मनुष्य की दृष्टि बाह्य जगत् की ओर होती है। वह बाह्य सृष्टि मे ही अपने को केन्द्रित रखता है। बाहरी वस्तुओ की प्राप्ति मे ही अपना सारा समय लगा देने के कारण अपने आपको जानने का उसे अवकाश नही मिलता। परिणाम यह होता है कि आत्म-दर्शन और आत्म ज्ञान की ओर झुकाव न होने से उसे आत्मशान्ति नही मिलती और वह बाह्य पदार्थों को अपना बनाने के प्रयत्न मे ही धक्के खाता रहता है। बाह्य वस्तुओ की चाह बढती रहती है और वह उन्हे अधिकाधिक प्राप्त करने की लालसावश व्याकुल और खेद-खिन्न बना रहता है। फल यह होता है कि शाति उससे कोसो दूर भागती चली जाती है।

वास्तव मे शाति सतोष का ही दूसरा नाम है और वह आत्मा का एक स्वाभाविक गुण है। इसलिये उसकी खोज आत्मा मे ही करनी चाहिये। आत्मा मे शान्ति का अक्षय खज़ाना मौजूद है, उसे प्राप्त करने के लिये बाहर दौड-धूप करना व्यर्थ है। यह ज्ञान साधक को सर्वप्रथम होना चाहिये। इसके बिना वह शाति को पाने के लिये न सही मार्ग पकड सकता है और न सही स्थान पर पहुच सकता है। जो व्यक्ति कपडा खरीदना चाहता है उसे कपडे की खरीद के लिये कपडे की दुकान की जानकारी करके उसपर ही पहुँचना होगा। इसके बिना बाज़ार मे बडी-बडी, सजी हुई और सुन्दर दूसरी दुकानो पर कपडे के लिये पूछते फिरना क्या लाभ देगा ? कुछ नही। सोने-चादी की, बरतनो की अथवा अन्य दुकानो पर क्या उसे कपडा मिल सकेगा ?

इसी प्रकार शाति और सतोष को पाने के लिये मनुष्य को अपनी आत्मा मे ही उनकी खोज करनी होगी। अपने आपको समझना होगा, लोभ और तृष्णा पर विजय प्राप्त करनी होगी। चाणक्य ने कहा भी है —

सतोषामृततृप्ताना यत्सुख शान्तचेतसाम् ।
न च तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ।।

अर्थात् सतोष रूपी अमृत से तृप्त जनो को जो शाति और सुख मिलता है, वह धन के लोभियो को, जो इधर-उधर दौडा करते है, नही प्राप्त होता।

सच्चा धन सतोष ही है। विलासिता तो दरिद्रता है जो कृत्रिमता के आवरण मे छिपी रहती है —

"Contentment is natural wealth, luxtury is artifical poverty"

इसलिये विवेकी पुरुष भौतिक वस्तुओ के आकर्षण से अपने को बचाकर अपने आत्मिक-धन शाति और संतोष की रक्षा और उनका विकास करता है। धन-दौलत से सुख और शाति प्राप्त करने की इच्छा करना मृग-मरीचिका से प्यास बुझाने के समान है। न तो धन के होने पर शाति मिलती है और न उसके अभाव मे ही। अमरीका सब देशो से अधिक धनवान् देश है किन्तु क्या वहाँ के व्यक्ति शाति का अनुभव करते है ? नही। धनी को और अधिक धन पाने की तथा सम्राट् को अपने साम्राज्य का अधिकाधिक विस्तार करने की लालसा बनी रहती है।

इससे साबित होता है कि निर्धन धन प्राप्त करने के लिये दुखी रहता है और धनी अपने धन को और अधिक बढाने के लिये व्याकुल रहता है।

शाति किसी को भी नसीब नही होती। यह इसलिये कि हम इन्द्रियो के सुखो को छोड नही सकते। सद् गुरुओ के उपदेशो को अमल मे नही लाते और प्राचीन शास्त्रो का अध्ययन करके आत्मा को निर्दोष और सतोपमय नही बनाते।

आज अन्य देशो मे एक छोर से दूसरे छोर तक घूम जाने पर भी सद् गुरु उपलब्ध नही होते, लेकिन भारत भाग्यशाली है कि उसे सद्गुरु प्राप्त है और वे बार-बार अपने उपदेशो से सन्मार्ग प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते है। हमारे शास्त्र अपने अक मे ज्ञान का अक्षय कोप लिये हुए हैं जिनके द्वारा हम जन्म-मरण के चक्र से सर्वथा मुक्त हो सकते हैं। किन्तु हम उनका उपयोग कहाँ करते हैं ? उनका महत्त्व समझने कहाँ है ? यह कितने परिताप की बात है।

एक बार विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर चीन गए। वहाँ के लोगो ने उनका महान् स्वागत और आदर-सत्कार किया। चीन के लोगो ने भारतीय वाड्मय का सदेश सुना और उनसे प्रभावित होकर उन्होने टैगोर से कहा—आपके देश का वाड्मय कितना महान् है! इसका अध्ययन करने वाले भारतीय कितने महान् और पवित्र होगे ? वे कभी चोरी नही करते होगे, झूठ नही बोलते होगे और हिंसा नही करते होगे।

यह सुनकर कविवर रवीन्द्र की आँखों मे आँसू आ गए। वे बोले—भाई! हमारा देश आज वैसा नही रहा जैसा आप उसे समझते हैं। मेरे देश के व्यक्ति आज झूठ बोलते हैं, चोरी करते है और दुराचार भी करते हैं।

कहने का तात्पर्य यही है कि जिस देश के प्राचीन शास्त्रों को पढकर अन्य देशो के व्यक्ति इतने प्रभावित होते है उस देश के व्यक्ति स्वय ही, अपने शास्त्रो से लाभ न उठाएँ, अपने जीवन को उन्नत न बनाएँ, आत्मा को न समझें, उसकी शक्ति पर विश्वास न करे और आत्म-शाति का अनुभव न करें तो यह कितनी लज्जा की बात है।

जड बुद्धि वाले मनुष्य यह नही जान पाते कि शाति कहाँ है ? कुछ व्यक्ति धन मे सुख मानते हैं पर उसे इकट्ठा करके भी वे शांति नही पाते। कुछ सत्ता मे शाति मानते हैं पर सत्ता पाकर भी वे शाति का अनुभव नही करते। वह इसीलिये कि सुख या शाति का झरना धन और सत्ता मे नही वरन् हृदय मे ही प्रवाहित होता है। जो उसे बाह्य वस्तुओ मे खोजना चाहते हैं वे उससे वचित रहते हैं।

सासारिक वस्तुओ की सुन्दरता अवास्तविक, मन. कल्पित और प्रति-

बिम्ब के सदृश आभास मात्र है। वास्तविक और स्थायी ज्योति तो आध्यात्मिक सौन्दर्य की है। किन्तु दु ख की बात है कि मनुष्य बाहरी प्रवृत्तियो मे इतना ग्रस्त रहता है कि उसे अपने जीवन-स्रोत की ओर दृष्टिपात करने का अवसर ही नही मिलता। दिन प्रतिदिन उसकी तृष्णा बढती जाती है और वह अधिकाधिक व्याकुलता का अनुभव करता है। एक उर्दू के कवि ने कहा है :—

जिन्दगी की लज्जतो मे जिस कदर आगे बढ़े।
दिलकशी के साथ रस्ता पुर खतर होता गया।।

सचमुच ससार के विषयभोगो की तृष्णा आग के समान है। यह निरन्तर बढती जाती है और मनुष्य की साधना, उसका उद्देश्य और मुक्ति प्राप्त करने की आकाक्षा खतरे मे पडती जाती है।

यह आग तभी बुझ सकती है जब मनुष्य, अपने जीवन के वास्तविक ध्येय को समझे, आत्म-दर्शन करे। आत्म-दर्शन हो जाने पर और आत्मा की सच्ची पहचान हो जाने पर आत्मा अपने स्वरूप की ओर अग्रसर होती है और अन्त मे परमात्म-अवस्था को प्राप्त कर लेती है।

आत्मदर्शन के बिना साधना नही हो सकती और मनुष्य कदापि जन्म-मरण के चक्र से मुक्त नही हो सकता। आत्म-दर्शन को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा मे इतनी निर्मलता आ जाती है कि सम्यग् ज्ञान भी तत्काल उत्पन्न हो जाता है और उसके पश्चात् ज्यो-ज्यो कपायो का, विकारो का क्षय होता जाता है त्यो-त्यो सम्यक् चारित्र की भी वृद्धि होती जाती है और मुक्ति स्वय समीप आती जाती है। इससे ज्ञात हो जाता है कि—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मोक्ष को प्राप्त कराने वाले साधन है। कहा भी है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।

—तत्वार्थ सूत्र १-१

साधना की दृष्टि से आत्मा तीन प्रकार की बताई गई है—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा।

बहिरात्मा उसे कहते हैं जो क्रोध, मान, माया, लोभादि कपायो मे ही लिप्त रहती है। जिसे जड और चेतन का विवेक नही होता और जो बाह्य पदार्थों मे लालसा व आत्म-भाव रखती है। ससार के अधिकाश प्राणी इसी श्रेणी मे आते हैं।

दूसरी अन्तरात्मा वह है जो विषय-विकारो से मुक्त होकर सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे रमण करती है और जब इस रत्नत्रय के अभ्यास से आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेती है तो परमात्मा बन जाती है।

साराश यही है कि सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रय को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को सर्वप्रथम अपना स्वरूप समझना होगा, अपनी आत्मा को पहचानना होगा। अगर ऐसा नही किया जाएगा तो साधना के नाम पर की जाने वाली बाह्य क्रिया आत्मा को परमात्मा बनाने मे समर्थ नही होगी। मनुष्य के जप, तप, त्याग और शरीर को काटा बना देने वाली तपस्या भी व्यर्थ चली जाएगी।

आत्मा के स्वरूप को पहचानकर कषायमुक्त हुए बिना वर्षों की शारीरिक तपस्या भी लाभ नही पहुँचाती। बाहुबलि ने एक वर्ष तक घोर तपस्या की किन्तु मान का तनिक सा अश मन मे विद्यमान रह जाने के कारण उन्हे कैवल्य की प्राप्ति नही हो सकी। उसका त्याग करने पर ही उन्हे केवल-ज्ञान की उपलब्धि हुई।

आत्मा सात्विक प्रवृत्ति करने की दशा में तो अपने आप का बन्धु है और कुत्सित प्रवृत्ति करने की दशा मे अपने आपका शत्रु भी है। इसलिये शुभचन्द्राचार्य कहते है —

"भज विगतविकार स्वात्मनात्मानमेव।"

अर्थात्—विकार रहित अनन्त शुद्ध स्वरूप अपनी आत्मा का अपनी आत्मा द्वारा ही ध्यान, चिन्तन, मनन और अध्ययन के रूप मे अनुभव करते रहो।

जैसा कि मैंने अभी बताया, आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए सम्यक् दर्शन और सम्यक्ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है, उसी प्रकार सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के लिये पहले सम्यक् श्रद्धा का होना भी अनिवार्य है। कहा भी गया है :—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञान, तत्पर सयतेन्द्रिय।
ज्ञान लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

जिस पुरुष के अन्त करण मे दृढ श्रद्धा होती है वह सम्यक्ज्ञान प्राप्त करता है और सम्यक्ज्ञान प्राप्त करके परम शाति अर्थात् मुक्ति, दूसरे शब्दो मे परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है।

जिमके हृदय मे श्रद्धा नही होती उमका मन सदैव पारे की तरह चचल वना रहता है। वह कभी एक साधन को अपनाता है और कभी दूमरे को। परिणाम यह होता है कि उसके विचारो मे स्थिरता नही आती और उसकी क्रियाए समुचित रूप नही ग्रहण कर पाती।

वडे से वडा ज्ञानी भी, अगर उसमे श्रद्धा नही हो तो ससार-सागर मे गोते खाता रहता है। उसके ज्ञान का कोई महत्व नही होता और उसकी विद्वत्ता व्यर्थ चली जाती है। ज्ञान की सम्पूर्ण शक्ति श्रद्धा मे ही निहित है। श्रद्धावान् ही ससार-सागर को तैर पाता है। श्रद्धा मे इतनी शक्ति, तेज और प्रभाव होता है कि उसके सामने समस्त पाप कापते है, और उससे भयभीत होकर दूर भाग जाते हैं। आचार्यों ने कहा है —

अश्रद्धा परम पाप, श्रद्धा पापप्रमोचिनी।
जहाति पाप श्रद्धावान्, सर्पो जीर्णमिव त्वचम् ॥

अर्थात्—अश्रद्धा घोर पाप है और श्रद्धा समस्त पापो से बचाने वाली है। जिस प्रकार सर्प अपनी पुरानी केंचुली को छोड देता है उसी प्रकार श्रद्धालु मनुष्य पापो का परित्याग कर देता है। ससारी प्राणी अनादि काल से जो भव-भ्रमण कर रहे है और समार मे विविध प्रकार की यातनाएँ भोगते हैं उमका कारण श्रद्धाविहीनता ही है।

समार का कोई धर्म और धर्मशास्त्र ऐसा नही जिमने श्रद्धा पर सर्व-प्रथम वल न दिया हो। जैन शास्त्र तो श्रद्धा को आध्यात्मिक प्रगति और विकास की प्रथम सीढी मानते है और इसकी प्राप्ति को अतिशय पुण्य का फल मानते हैं। कहते हैं

"सद्धा परमदुल्लहा"।

श्रद्धा अत्यन्त दुर्लभ है। वह व्यक्ति अत्यन्त सौभाग्यशाली है जिमे सम्यक् श्रद्धा की प्राप्ति हुई है। गीता मे उल्लेख है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुष., यो यच्छ्रद्ध स एव स ॥

अर्थात् यह आत्मा श्रद्धा का ही पुतला है। जिमकी जैमी श्रद्धा होती है वह वैसा ही वन जाता है। ईमाइयो के धर्मग्रथ इन्जील मे भी श्रद्धा को अत्यन्त महत्व दिया गया है —

"A doubte minded man is unstable all his ways"

—James 1. 8

एक श्रद्धाहीन व्यक्ति अपनी सभी क्रियाओं मे चलायमान रहता है। किसी भी कार्य को वह समुचित रूप से नही कर पाता।

साराश यही है कि श्रद्धा के विना आत्मा मे दृढता सकल्पशक्ति और साहस का आविर्भाव नही हो सकता। जीवन की वास्तविक उन्नति श्रद्धा पर ही निर्भर होती है। श्रद्धा ही मनुष्य को अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर कर सकती है धीरे-धीरे आत्मा को परमात्मा वनाने मे समर्थ होती है।

जिस व्यक्ति को भगवान् मे श्रद्धा होती है वह किसी भी विपत्ति मे व्याकुल नही होता। और पूर्ण रूपसे अपने को, अपने इष्टदेव के भरोसे पर छोड देता है। दुश्मन पर भी वह क्रोध नही करता, उसे भी अपना हितकारक और मित्र मानता है।

अत्याचारी रोमन सम्राट नीरो के शासनकाल मे एग्रीपीनस नामक एक सत्यवादी निर्भीक और ईश्वर पर दृढ श्रद्धा रखने वाला व्यक्ति वहाँ रहता था। वह वडा ही गरीव था। एक वार उसे कई दिन खाना नसीव नही हुआ और जव मिला, तो उसने अपने एक मित्र के साथ वैठकर खाने की तैयारी की।

एग्रीपीनस खाना शुरू करने वाला ही था कि नीरो के कुछ सिपाही दरवाज़ा खोलकर अन्दर आ गए। उनकी टुकडी का सरदार वोला—'एग्रीपीनस, सम्राट नीरो ने तुम्हे सजा दी है।'

एग्रीपीनस ने पूछा—"काहे की सज़ा ? मौत की ?'

'नही, देश निकाले की', सरदार ने उत्तर दिया।

एग्रीपीनस वोला—ईश्वर की मेहरवानी है। पर क्या जरा ठहर सकोगे ? मैं खाना खा लूं। कई दिन वाद भोजन मिला है।

सरदार ने दुखी होकर कहा—'एग्रीपीनस ! मुझे अफसोस है ! नीरो का हुक्म है कि तुम्हे फौरन अफ्रीका भेज दिया जाय।'

एग्रीपीनस हसते हुए वोला— 'कोई वात नही, चलो अफ्रीका चलकर ही खायेंगे। ईश्वर की यही मर्जी होगी।' और वह उसी क्षण खाना समेटकर उठ खडा हुआ और रवाना हो गया।

कितनी दृढ श्रद्धा थी एग्रीपीनस मे अपने ईश्वर के प्रति ? आजकल के व्यक्तियो मे, विशेषकर अनेक युवको मे तो श्रद्धा का अश भी नही होता। वे स्वय को ही सर्वज्ञ मानते हैं। अपने पूर्वजो का उपहास करते हैं। हमारे

प्राचीन इतिहास, सभ्यता और सस्कृति का उनकी दृष्टि मे कोई मूल्य नही होता। यहा तक कि उन्हे स्वय अपने ऊपर भी विश्वास नही होता। श्रद्धा और विश्वास क्या चीज है, यह समझने का प्रयत्न भी वे नही करते।

इस सबके मूल मे अविद्या और अज्ञान ही हैं। जो नवयुवक इस प्रकार की बातें करते है उन्होने कभी अपने धर्मग्रथो को उठाकर नही देखा। यह ज्ञान ही नही प्राप्त किया कि हमारे धर्मशास्त्र भी वैज्ञानिक तथ्यो एव सिद्धातो से परिपूर्ण हो सकते है। वे तो पश्चिम की थोथी सभ्यता पर मुग्ध होकर उसी की उपासना करते हैं। इधर-उधर की सुनी-सुनाई बातो के आधार पर बुद्धि-वाद की बाते करते है पर एक भी बात उनकी वास्तव मे बुद्धिसगत नही होती। अपनी स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति की उन्हे पहचान ही नही है।

आधुनिक सभ्यता का सबसे बडा अभिशाप यह है कि मानव अनात्म-वाद की लहरो मे बह गया है। अपने आपको भूलकर बाहरी जगत मे सुख तथा शाति प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। परिणाम यह होता है कि न तो वह अपने आपको पा सकता है और न जगत को ही पाता है। उसे कही भी शाति नसीब नही होती। आध्यात्मिक साधना करके व्यक्ति न तो परलोक ही सुधार पाता है और न इस लोक मे ही तृष्णा के कारण सतुष्टि प्राप्त कर सकता मे। उर्दू भाषा मे बडा सुन्दर कहा गया है —

न खुदा ही मिला न विसाले सनम,
न इधर के रहे न उधर के रहे।

अर्थात् —'दुविधा मे दोनो गए, माया मिली न राम।' न तो खुदा को पा सके और न सासारिक वस्तुओ मे सुख और तृप्ति प्राप्त हुई। कही के भी नही रहे। दोनो तरफ मे ही डूब गए।

श्रद्धा ही मनुष्योको आत्मा से परमात्मा बनने का मार्ग सुझाती है और मनुष्य मे सच्ची मनुष्यता का सृजन करती है। परमात्म-लोक के पथ पर अग्रसर होने वाले प्राणी के लिये श्रद्धा ही परम मित्र और सहायक बन सकती है।

आज के मनुष्य कहते हैं कि 'श्रद्धा मे अन्धता होती है। अधा व्यक्ति जिस प्रकार ठोकरें खाता फिरता है उसी प्रकार श्रद्धालु भी ससार मे ठोकरें खाते हैं। सब जगह भगत लोग उपहास के पात्र बनते हैं। कोई भी उन्हे नही पूछता।"

कितनी अज्ञानतापूर्ण बात है। श्रद्धा विवेक की विरोधिनी नही अपितु सहचरी है। श्रद्धावान् व्यक्ति अपने विवेक के द्वारा जीवन का सही उद्देश्य खोजता है और उस पर दृढ सकल्प होकर चलता है। ठोकरें नहीं खाता। उसके प्रत्येक कदम मे विश्वास और दृढता होती है।

इसके विपरीत अश्रद्धालु व्यक्ति प्रथम तो किसी मार्ग पर चलने का साहस नही करते और अगर सयोगवश किसी की प्रेरणा से चल पड़ते है तो शका और अविश्वास से उनके कदम डगमगाते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि वे कदम-कदम पर ठोकरें खाते है और कभी ऐसे गिरते हैं कि फिर उनके लिये उठना असभव हो जाता है।

श्रद्धा मनुष्य को पुरुषार्थी बनाती है और पुरुषार्थी व्यक्ति ही जीवन को सफल बना सकता है। श्रद्धा के अभाव मे अस्थिरचित्त व्यक्ति किसी तरग मे आकर कोई पुरुषार्थ करने लगता है, किन्तु विरोधी तरग आते ही उसे छोड-छाडकर बैठ जाता है। इसके विपरीत जिसके हृदय मे श्रद्धा होती है वह व्यक्ति ससार के कार्य करते हुए भी अपने स्वरूप को नही भूलता। जिस प्रकार कमल जल मे रहते हुए भी उससे निर्लिप्त रहता है उसी प्रकार श्रद्धावान् व्यक्ति सासारिक कर्तव्य करते हुए भी उनकी लालसा से आत्मा को विरक्त रखता है। ऐसे श्रद्धावान् व्यक्ति को न तीर्थो मे जाने की आवश्यकता होती है और न ही गगास्नान करके अपने पापो को धोने की।

एक बार एक ब्राह्मण देवता कुम्भ के मेले के अवसर पर गगास्नान द्वारा अपने पापो को धो डालने के लिये घर से रवाना हुए। चलते-चलते वे गगा के करीब पहुँचे पर उस समय तक उनकी जूतियाँ फट गई थीं। उन्हे सुधारने के लिये उन्होंने आसपास दृष्टि दौडाई तो देखा कि एक चमार वहीं रास्ते मे बैठा हुआ जूते सी रहा था। उसका नाम रैदास था।

ब्राह्मण ने कहा—रैदास! मेरी जूतियाँ फट गई है, उन्हे सी दो। उसने जूतियाँ लेकर सीना शुरू किया। इस बीच ब्राह्मण से चुपचाप बैठा नहीं रहा गया। बोला—रैदास! तुम बडे भाग्यवान् हो कि गगातट के पास रहते हो। रोज ही गगा स्नान करते होओगे!

रैदास बोला—महाराज! मै सत्तर साल का हो गया पर एक बार भी गगा मे स्नान करने नही गया।

ब्राह्मण आश्चर्य से बोला—अरे इतने पास होते हुए भी तुमने अबतक कभी गगा स्नान नही किया? बडे पापी हो!

रैदास कुछ नही बोला और उसने चुपचाप ब्राह्मण की जूतियाँ सी कर दे दी। किन्तु जाते समय उसने एक सुपारी ब्राह्मण को दी और कहा— महाराज ! इतनी कृपा करना कि जब आप स्नान करो तो यह सुपारी मेरी ओर से गगाजी को भेट कर देना। ब्राह्मण हँसता हुआ सुपारी लेकर चल दिया।

जब ब्राह्मण गगा मे स्नान करने लगा तो उसे सुपारी की याद आई और उसने कौतूहलवश वह सुपारी, यह कहते हुए गगा मे डाल दी कि – गगा मैया ! अपने महान् भक्त रैदास चमार की यह भेंट स्वीकार करो।

किन्तु यह कहने के साथ ही उसकी आँखे फटी रह गई जब उसने देखा कि गंगा ने साक्षात् रूप धारण करके एक 'ककण' उसे दिया और कहा— यह ककण रैदास को मेरी ओर से उपहार स्वरूप देना।

ककण पाकर ब्राह्मण देवता की नीयत बदल गई। सोचा, चमार इस ककण का क्या करेगा ? बस, ब्राह्मण सिर पर पैर रखकर दूसरे रास्ते से भाग चला और सीधा अपने घर पहुँचा। घर आकर उसने ब्राह्मणी को ककण दिखाया तो वह बोली—इसे राजा के पास ले जाकर बेच दो ! इतने सुन्दर ककण का मुहँमागा दाम मिलेगा।

ब्राह्मण राजा के पास पहुँचा और राजा को ककण दिखाया। राजा उस रत्नजटित सुघटित कलापूर्ण ढग से बने ककण को देखकर चकित और प्रसन्न हुआ। उसने ब्राह्मण को मुहँ मागा धन देने का वायदा करके ककण अन्त पुर मे महारानी को दिखाने के लिये भेजा।

रानी ने ककण देखा और लाने वाले से कहलाया कि महाराज से कहो कि इसकी जोड का दूसरा ककण भी मगवाएँ। जब तक दूसरा ककण नही आएगा मैं भोजन नही करूँगी।

राजा ने ब्राह्मण को उसी क्षण दूसरा ककण लाने का आदेश दिया। ब्राह्मण के तो देवता कूच कर गए। वह सिर धुनता हुआ घर आया और ब्राह्मणी से बोला अब हमारी मौत आ गई है। अगर दूसरा ककण नही मिला तो राजा मुझे मरवा डालेगा।

ब्राह्मणी ने सुझाव दिया जाकर रैदास चमार के हाथ पैर जोडो। वह दूसरा ककण गगा माता से मगवा दे।

बेचारा ब्राह्मण फिर वहाँ से भागा और रैदास चमार के पास पहुँच कर उसके पैर पकड कर बोला—रैदास, मैं महा अपराधी हू। गगा मैया ने

तुम्हारे लिये एक कंकण दिया था। उसे ले जाकर मैंने राजा को बेच दिया। किन्तु राजा ने दूसरा कंकण लाने की आज्ञा दी है। अगर अब तुम मेरी लाज नही रखोगे तो मैं बेमौत मारा जाऊँगा। भगवान् के लिए, मुझे एक और सुपारी दो ताकि मैं उसे तुम्हारे नाम से गगाजी को प्रदान करके एक कंकण और माग लाऊँ।

रैदास चमार ने शाति पूर्वक ब्राह्मण की बात सुनी और अपने सामने रखी हुई लकडी की कठोती मे, जिसमे जूतो मे लगाने के लिये पानी रखा था, हाथ डाला। एक पल मे ही उसमे से दूसरा कगन वैसा ही निकाल कर ब्राह्मण के हाथ मे थमा दिया।

ब्राह्मण सास रोके हुए चमार की इस क्रिया को देख रहा था। भौचक्का होकर बोला—रैदास! इस कठोती मे से कंकण कैसे निकल आया? पहले वाला तो गगाजी ने दिया था।

रैदास ने शान्ति पूर्वक उत्तर दिया—महाराज! 'मन चगा तो कठौती मे गगा।" ब्राह्मण की आँखें खुल गईं। वह समझ गया कि यह प्रताप दृढ श्रद्धा का है। श्रद्धा के बिना सौ बार गगा मे नहाने पर भी कोई लाभ नही हो सकता। वह गद्गद होकर रैदास के चरणो पर लोट गया और बोला—

रैदास! सचमुच ही तुम्हे कभी गगास्नान करने की आवश्यकता नही है। तुम अत्यत महान हो! धन्य हो।

बन्धुओ! दृढ श्रद्धा का प्रताप इतना महान होता है। श्रद्धा से असभव भी सभव बन जाता है। दुर्भाग्य से आज, पाश्चात्य सभ्यता ने श्रद्धा और तर्क मे सघर्ष उत्पन्न कर दिया है और तर्क श्रद्धा पर हावी हो गया है। आधुनिक व्यक्ति तर्क को अपना मार्गदर्शक मानते हैं। किंतु तर्क से कभी वस्तु का निश्चय अथवा निर्णय नही हो सकता। वह तो मनुष्य को सदेह और अविश्वास के भयानक अधकार मे ले जाकर छोड देता है। तर्क से नास्तिकता उत्पन्न होती है और दिमाग मे अस्थिरता आ जाती है। फलस्वरूप श्रद्धा के अभाव मे मानव जीवन स्थिर नही हो पाता और व्यक्ति सासारिक अथवा पारमार्थिक किसी भी क्रिया को समुचित रूप से नहीं कर सकता। आत्मा को परमात्मा बनाने की उसकी चाह अधूरी ही रह जाती है।

'आत्म-ज्ञान' और 'श्रद्धा' के साथ-साथ परमात्मपद प्राप्त करने के इच्छुक को तीसरी बात ध्यान मे रखने की यह है कि वह समय-समय पर अपनी भूलो के लिये प्रायश्चित्त करे उनकी आलोचना करता रहे। आलो-

चना आत्म-शुद्धि का एक महान साधन है। आत्मा मे जो दोष आ जाते है उनको हटाकर आगे भूलें न करने की प्रेरणा इसके द्वारा मिलती है।

साधक पुरुष को प्रथम तो इस बात की पूर्ण सावधानी और चिन्ता रखनी चाहिये कि उसके द्वारा कोई दुष्कृत्य न हो। किंतु इन्द्रियाँ अत्यत बलवान् होती है और मन तो उनसे भी अधिक बलवान् है, अत बहुत सावधानी रखने पर भी कभी-कभी साधक का पैर फिसल ही जाता है।

पर ऐसे व्यक्ति को निराश होने की कोई आवश्यकता नही। वह अपने द्वारा होने वाली भूलो को स्वीकार कर ले और उनके लिये सच्चे मन से पश्चात्ताप करता हुआ प्रायश्चित्त करे।

वास्तव मे देखा जाए तो आलोचना परमात्म-पद को प्राप्त करने का सच्चा राजमार्ग है। इसीलिये भगवान् महावीर ने आलोचना को आत्म-सुधार के लिये अत्यत उपयोगी बताया है। साथ ही यह भी कहा है कि जीवन मे लगा हुआ कोई भी दोष पश्चात्ताप करने से रह न जाय इसलिये प्रत्येक दोष की क्रमश आलोचना करनी चाहिये —

ज पुव्व त पुव्व, जहाणुपुव्वि जहक्कम्मं सव्व।
आलोइज्ज सुविहिओ, कमकालावधिं अभिन्दतो॥

— समाधिकरण प्र० १०५

अर्थात् श्रेष्ठ आचार वाले पुरुष को क्रम और काल का उल्लघन न करते हुए, अपने दोषो की क्रमश: आलोचना करनी चाहिये। जो दोष पहले लगा हो उसकी आलोचना पहले और बाद मे लगे हुए दोष की आलोचना बाद मे करनी चाहिये।

कुछ लोगो का खयाल है कि जो काम हो चुका उसके लिये पश्चात्ताप करने से कोई लाभ नही। लेकिन यह विचार ठीक नही है। पश्चात्ताप हृदय मे प्रज्वलित होने वाली ऐसी अग्नि है जिसमे किये हुए सब पाप भस्म हो जाते हैं।

आलोचना करने का सर्वोत्तम तरीका है किये हुए पापो को अपने गुरु के समक्ष निवेदन करना। साधक को सर्वथा निष्कपट और सरल भाव से अपने दोषों को गुरु के समक्ष प्रकट कर देना चाहिये। सरल भाव का अर्थ यह है कि जो दोष जिस रूप मे सेवन किया गया हो उसे उसी रूप मे प्रकट कर देना। न तो उसे न्यूनरूप मे और न अधिक रूप मे प्रकट करना चाहिये।

जो साधक अपने समस्त छोटे और बडे दोषो को सरल भाव से अपने गुरु के समक्ष प्रकट कर देता है, वह भविष्य मे अवश्य ही पुन उन दोषो के सेवन से बच सकता है।

छोटे से छोटा दोष भी सारे जीवन को नष्ट कर सकता है, जिस प्रकार कि अग्नि का एक अत्यन्त लघु कण भी सम्पूर्ण नगर को भस्म कर देता है। मनुष्य से भूल हो जाना कोई असंभव बात नही है, किंतु उस भूल को चालू रखना अनुचित है। एक पाश्चात्य दार्शनिक 'सिसो' ने कहा भी है—

"Any man may make a mistake but none a fool continue in it"

अर्थात्—गलती कोई भी मनुष्य कर सकता है किन्तु उसे मूर्ख के अतिरिक्त कोई जारी नही रखता।

भूल एक प्रकार से ज्ञान की शिक्षा है। गलती हो जाने पर उसे अधिक समय तक न देखकर उसके कारण को जानना चाहिये और भविष्य मे पुन भूल न होने देने का सकल्प करना चाहिये। क्योकि भूतकाल को तो बदला नही जा सकता पर भविष्य मनुष्य के ही हाथो मे रहता है। गाधी जी का कथन है —

"गलतियाँ करके, उनको मजूर करके और उन्हे सुधार करके ही मैं आगे बढ सकता हूँ। पता नही क्यो किसी के बरजने से या किसी की चेतावनी से मैं उन्नति कर ही नही सकता। ठोकर लगे और दर्द उठे तभी मैं सीख पाता हूँ।"

सज्जनो! आज मैंने आपको बताया है कि आत्मिक सुख कैसे प्राप्त हो सकता है और आत्मा को दोष रहित करके परमात्मा कैसे बनाया जाता है। आप लोगो ने समझ लिया होगा कि अगर हमे सच्चा सुख प्राप्त करना है तो उसे अपनी अन्तरात्मा मे ही पाना होगा। बाह्य वस्तुओ मे, पवित्र नदियो मे या तीर्थों मे जाकर भी आत्मा को वास्तविक सुख और सतोष प्राप्त नही हो सकता।

कहा गया है कि एक बार युधिष्ठिर अपने चारो भाइयो सहित श्री कृष्ण के पास आए। कृष्ण ने उनके आने का कारण पूछा।

युधिष्ठिर, जो बडे व्यथित थे, बोले—नटवर! युद्ध मे लाखो व्यक्तियो का संहार हुआ। इस कारण हमारा मन बडा दुखी है। अब हम चाहते है कि कुछ दिन तीर्थ स्थानो मे भ्रमण करके मन को शात करें।

कृष्ण सोचने लगे कि युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा व्यक्ति भी शान्ति प्राप्त करने के लिये बाहर भटकना चाहते हैं। प्रत्यक्ष मे उनके निर्णय को बदलने की उन्हे इच्छा नही हुई पर उन्हे शिक्षा देने के लिये एक उपाय उन्होंने खोजा।

महल के अन्दर जाकर कृष्ण एक तू बी लाए और युधिष्ठिर को देकर बोले धर्मराज ! आपकी इच्छा पूर्ण हो। अगर सभव होता तो मैं भी आपके साथ चलता किन्तु मैं अत्यधिक व्यस्त हूँ। आप मेरी इस तू बी को अपने साथ ले जाएँ और सब तीर्थो के पवित्र पानी मे इसे भी डुबो लाए।

युधिष्ठिर ने सहर्ष स्वीकृति दे दी और वहा से रवाना हो गए। कुछ मास पश्चात् वे अपनी तीर्थयात्रा से लौटे और तू बी लाकर उन्होंने श्रीकृष्ण के हाथ मे थमा दी। कहा—लीजिये आपकी तूंबी। मैंने प्रत्येक स्थान पर पवित्र जल मे इसे स्नान कराया है।

श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को धन्यवाद दिया और उसी समय सबके समक्ष उस तू बी को पिसवा कर उसका चूर्ण बनवाया। उसके बाद उन्होने स्वय अपने हाथो से सब सभासदो को और पाडवो को भी थोडा थोडा चूर्ण दिया और कहा—यह तूबी समस्त पवित्र नदियो मे और तीर्थो मे घूमकर आई है अत अत्यन्त पवित्र हो गई होगी।

समस्त व्यक्तियों ने तूबी का चूर्ण माथे से लगाकर उसे मुह मे डाल लिया। पर क्षणभर मे ही सब मुँह कडवा हो जाने के कारण थू-थू करने लगे। कृष्ण ने बनावटी आश्चर्य दिखाते हुए कहा —अरे, इतनी पवित्र नदियो मे अवगाहन करके और पवित्र तीर्थों की यात्रा करके भी यह तूबी मीठी नही हो पाई ? तब तो लगता है कि हमारा कडवापन और मन की अशाति भी तीर्थो मे जाने से दूर नही हो सकती। उन्होंने मुस्कराते हुए युधिष्ठिर की ओर दृष्टिपात किया और एक श्लोक कहा—

> आत्मा नदी सयमतोयपूर्णा,
> सत्यावहा शीलतटा दयोर्मि।
> तत्राभिषेक कुरु पाडुपुत्र,
> न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा॥

अर्थात्—हे पाडुपुत्र ! अपनी जिस आत्मारूपी नदी मे सयम रूप जल, सत्य रूप प्रवाह, दया रूप तरगे और शील रूपी कगार हैं, उसी मे अवगाहन

करो ! बाह्य नदियो के जल से कभी अन्तरात्मा शुद्ध और पवित्र नही हो सकती।

बन्धुओ ! आत्मा स्वय ही अपने को परमात्मा बना सकती है। दूसरा कोई भी इसे परमात्म-पद दिलाने मे समर्थ नही है। बिना प्रयास और साधना के कितने भी तीर्थों मे जाकर वह विशुद्ध नही हो सकती।

आत्मिक-ज्ञान, दृढ श्रद्धा और अपनी भूलो की आलोचना ये तीन साधन आत्मा को पूर्ण उज्ज्वल और दोष रहित बनाने वाले है। इनसे आत्मा परमात्म-पद प्राप्त करने की योग्यता पाती है और कालातर मे परमात्मरूप हो जाती है।

मौनं सर्वार्थसाधनम्

मौन समस्त अर्थों की सिद्धि करने वाला है। मौन उस अवस्था को कहते हैं जो वाक्य और विचार से परे शून्य ध्यानावस्था हो। जीवन मे मौन का बडा भारी महत्व है। मौन धारण करने से मस्तिष्क की शक्ति बढती है और उस शक्ति को बल मिलता है। इसलिये कहा जाता है कि मौन मे अनत शक्ति निहित है। किसी पाश्चात्य विद्वान ने कहा है —

"Speach is gold but silence is golden."

अर्थात् बोलना सोना है किन्तु मौन सुवर्णनिर्मित सुन्दर आभूषण है।

अधिक बोलने से स्वास्थ्य को हानि पहुचती है और उसमे इतना समय व्यर्थ चला जाता है कि मनुष्य अपने उद्देश्य की सिद्धि मे पूरा समय नहीं दे पाता। इसके विपरीत कम बोलने वाले और अधिक से अधिक मौन रहने वाले व्यक्ति की कार्यक्षमता बढ जाती है और वह अपने समय का पूर्ण रूप से सदुपयोग कर सकता है। कबीर ने कहा है '—

बाद विवादे विष घना, बोले बहुत उपाध।
मौन गहै सबकी सहै, सुमिरै नाम अगाध।।

वाद-विवाद करने से मनुष्य-मनुष्य मे कलह हो जाता है, कटुता बढती है और अनेक उपाधिया परेशान करती हैं। किन्तु सबकी सहता हुआ मनुष्य अगर मौन धारण कर ले तो वह निश्चित होकर भगवद्भजन कर सकता है, भगवान का स्मरण कर सकता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर की एक कविता मे अत्यन्त सुन्दर भाव भरा हुआ है। उसमे पूछा है . --

"हे सागर ! तेरी भाषा क्या है ?"
"अनन्त प्रश्न की भाषा।"
"हे आकाश ! तेरे उत्तर की भाषा क्या है ?"
"अनत मौन की भाषा।"

कितने सुन्दर भाव हैं। वास्तव मे मौन मे शब्दो की अपेक्षा अधिक वाक् शक्ति होती है। अनत सागर और असीम आकाश मौन रहकर भी जीवन के महान सत्य का दिग्दर्शन करा देते हैं।

वन्धुओ ! एक वात और आपको ध्यान मे रखना चाहिये कि मौन का अर्थ सिर्फ जवान पर ताला लगाकर वैठ जाना ही नही है। वचन से मौन रहकर अगर मनुष्य मन से औरो का अहित चिंतन करता रहे, क्रोध के आवेश मे आकर अगर विना वोले निर्दोष प्राणियो का हनन करता रहे तो उस मौन का क्या महत्व है ? ऐसा मौन मौन नही माना जा सकता ।

मौन चार प्रकार का माना गया है। (१) मन (२) वचन (३) काय और (४) आत्मा का। प्रतिमाधारी मुनि चारो प्रकार का मौन धारण करते हैं। तभी उनका जीवन महान् वनता है। वे पापो से वचते है और ससार के लिये पथ-प्रदर्शक वन जाते है।

चार प्रकार के मौन मे प्रथम मन का मौन कहा गया है। मन के मौन से तात्पर्य है—मन मे अनुचित सकल्प-विकल्पो का न होना और मन को इतस्तत भटकते हुए रोककर कावू मे रखना।

मन का मौन रखना वचन के मौन रखने से भी वडा कठिन है क्योकि अहर्निश मन की दौड़ जारी रहती है —

जेती लहर समुद्र की, तेती मन की दौड।
सहज ही हीरा पाइये, जो मन आवे ठौर ॥

मन मे विचित्र मोहिनी शक्ति होती है। वहुत प्रयत्न करने पर भी उस पर नियत्रण करने वालो को वह मोहित कर लेती है। ऐसी स्थिति मे जो व्यक्ति मन की ओर से असावधान रहते हैं, वे मन को अपने अधीन करने के वजाय स्वयं उसके अधीन हो जाते हैं। और उसके दास वनकर, उसके सकेत पर ही नाचते हुए भविष्य मे अपना घोर अनिष्ट करते है।

जैनागमो मे मन को दुष्ट घोडे की उपमा दी गई है। उसका अभिप्राय यही है कि जव मन दुष्ट अश्व की तरह आरोही के नियत्रण मे वाहर हो जाता है तो वार-वार लगाम खेंचने पर भी वह कुपथ की ओर अग्रसर होता चला जाता है। इसलिये उसे प्रारम्भ मे ही नियत्रण मे रखना चाहिये। एक उर्दू के शायर ने भी यही कहा है —

अस्प (अश्व) हो आजाद सरपट कंद होता है सवार।
अस्प हो मुतलिकइना (स्वतन्त्र) हैरान होता है सवार ॥
जाने मन आजाद करना चाहते हो अस्प को।
कर रहे आजाद क्यो तुम आस्तीं के सांप को ॥

वास्तव मे ही अनियत्रित मन आस्तीन के सर्प की तरह है। वह निर्मल आत्मा को डसकर उसमे विषय-विकारो का जहर भर देता है। इसलिए आध्यात्मिक साधना करने वाले साधको को तो सतत अभ्यास के द्वारा मन की गति का अत्यन्त सावधानी पूर्वक सूक्ष्म अवलोकन करना चाहिये। तभी मन पर विजय प्राप्त हो सकती है। यही सूक्ष्म अवलोकन मौन कहा जा सकता है। इस पर नियत्रण रखने का प्रयत्न करना ही मन का मौन है।

· प्रश्न उठता है कि मन का मौन कैसे रखा जाए ? अथवा मन पर विजय किस प्रकार प्राप्त की जाय ? उत्तर यह है कि मन को धर्मशिक्षा अथवा समाधि के द्वारा चचल वनने से रोका जा सकता है।

मन को समाधि मे स्थिर करने से एकाग्रता आती है। और एकाग्रता आने पर सच्ची शाति और सुख का अनुभव होता है। जिस प्रकार मनुष्यो को निद्रा लेना अनिवार्य है, रात्रि मे अथवा दिन मे वह निद्रा लेकर अपने शरीर को स्वस्थ रखता है। एक रात्रि भी अगर अनिद्रा की अवस्था मे गुजारी जाती है तो सारा शरीर वेचैनी का अनुभव करता है। और जव पुन वह निद्रा ले लेता है तभी हलकापन तथा शाति महसूस करता है। इसी प्रकार कुछ काल समाधि पूर्वक व्यतीत करने पर मन शात होता है और वह एकाग्रता का अनुभव करता है। समाधि का वार-वार अभ्यास करने पर मन को एकाग्र रहने की आदत पड जाती है और उसकी चचलता खतम हो जाती है। इसे ही मन पर विजय पाना कहते है।

धर्मशिक्षा का अर्थ है—धर्माचार अथवा सयम का अभ्यास। सयम के अभ्यास मे ध्यान का वडा भारी महत्व है और मन की एकाग्रता के लिये यह परमावश्यक है। ध्यान चार प्रकार के होते हैं। उनमे से धर्मध्यान तथा शुक्ल-ध्यान अत्यन्त शुभ और कल्याणकारी हैं। जो मनुष्य ध्यान का अभ्यास कर लेते हैं वे निश्चित रूप से अपना कल्याण कर सकते हैं। किन्तु ध्यान मे भी मन को रत वना लेना सरल नही है, अत्यन्त दुष्कर है। ध्यानावस्था की स्थिति को प्राप्त करने मे पूर्व भी अनेक प्रकार के प्रयत्नो की तथा अभ्यासो की आवश्यकता होती है।

सर्वप्रथम मन को विषय-विकारो से विमुक्त करना तथा उसे अधिक-से-अधिक भगवद्भक्ति मे लगाना चाहिए।

उसके वाद आहारशुद्धि का ध्यान रखना चाहिये। राजस और तामसिक आहार करने से मन की भावनाएँ विकृत और दोषपूर्ण हो जाती हैं।

कहा भी जाता है : —

जैसा अन्न जल खाइये, तैसा ही मन होय ।
जैसा पानी पीजिये, तैसी वानी होय ।।

तीसरा मन को एकाग्र करने का उपाय है चिन्तन करना । बारह भावनाओ को भाने से और ईश्वर के स्वरूप का चिन्तन करने से मन पर नियन्त्रण हो सकता है ।

चौथे, मन की खोटी गति का निरोध करना चाहिये । किन्तु गति का निरोध करने पर भी कदाचित् वह विषयो की ओर उन्मुख हो जाए तो पांचवे प्रयत्न मे उसे घेर कर शीघ्र लौटाने का यत्न करना चाहिये ।

छठो बात है हृदय मे ससार के समस्त प्राणियो के प्रति मैत्री भावना का विकास करना और परमात्मा के प्रति प्रीति को बढाते रहना ।

इसके पश्चात् अगला और सातवाँ प्रयत्न यह है कि गुणी व्यक्तियो को देखकर उनके प्रति अनुराग रखना चाहिये और प्रमोद भावना को मन मे स्थान देना चाहिये ।

आठवाँ उपाय है मन मे सदा करुणा की भावना विद्यमान रहना और दीन, दु खी, दरिद्र को देखकर उसका दु ख दूर करने का प्रयत्न करते रहना ।

नौवाँ और सबसे अन्तिम प्रयत्न मन को साधने का यह है कि मन की निस्पृही और उपेक्षावृत्ति को जागृत रखना । ससार मे पापियो की तथा घृणित व्यक्तियो की भरमार होती है । उनके ससर्ग मे सदा ही किसी-न-किसी कारण वश आना पडता है किन्तु उनके प्रति घृणा न रखते हुए उपेक्षा की भावना रखना चाहिये । हमे पाप से नफरत करनी चाहिये, पापियो से नही ।

इन नौ साधनो का अगर साधक अभ्यास करे तो कोई कारण नही है कि वह मन पर विजय प्राप्त न कर सके । मनुष्य को इस तथ्य को कभी नही भूलना चाहिये कि भले ही मन कितना भी चचल और दुष्ट क्यो न हो आखिर तो वह आत्मा की ही एक शक्ति है । वह आत्मा का स्वामी नही वरन् आत्मा ही उसका स्वामी है । अतएव आत्मा उसे अपने नियन्त्रण मे अवश्य रख सकती है । यह कठिन होने पर भी असभव नही है । जो साधक मनोनिग्रह को अशक्य न मानकर साधना करता है वह निश्चय ही सफल होता है । मनोनिग्रह ही वास्तव मे मन का मौन है और जो साधक इसे समझते हुए मौन रखने का प्रयत्न करता है वह अक्षय कल्याण का भागी अवश्य बनता है ।

दूसरे प्रकार का मौन वचन का बताया गया है। ससार मे जितने भी जीव हैं, उन सबमे सिर्फ मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसमे स्पष्ट बोलने की शक्ति है। यद्यपि मनुष्य की तरह अनेक पचेन्द्रिय पशु-पक्षियो के जबान होती है, शारीरिक शक्ति मे भी शेर हाथी तथा अन्य जीव-जन्तु मनुष्य से अधिक होते हैं, फिर भी वे अपनी जिह्वा का प्रयोग मनुष्य की तरह स्पष्ट, मधुर अथवा कडवी भाषा मे नही कर सकते।

मनुष्य अपनी वाणी से ही औरो को दोस्त अथवा दुश्मन बना सकता है। कहा भी है—

जिह्वा मे अमृत बसै, विष भी तिसके पास :
इक बोले तो लाख ले, एके लाख-विनास ॥

जिह्वा मे ही मधुरता रूपी अमृत और कटुता रूपी विष रहता है। एक तो लाखो को अपना बना लेता है और दूसरा लाखो को बेगाना। वाणी से ही मनुष्य सम्मान का पात्र बनता है और वाणी से ही अपमान का पात्र भी बन जाता है। कभी-कभी तो वाणी के द्वारा महा अनर्थ भी हो जाता है।

इसीलिये कहा गया है कि प्रत्येक मनुष्य को यथा-शक्य मौन रहना चाहिये। वाणी के मौन के भी दो भेद बताए गए हैं (१) चुप रहना (२) और सावद्य भाषा न बोलना।

बिलकुल न बोलना तो मौन कहलाता ही है किन्तु सावद्य भाषा, अर्थात् पापजनक भाषा न बोलना भी वचन का मौन माना जाता है। शास्त्रो मे सावद्य भाषा बोलने का निषेध है। उसमे पापो का आगमन होता है। मुनियो के सामने अनेक प्रकार की परिस्थितियाँ आती है। कोई आकर कहता है कि 'मैं धर्म कार्य करना चाहता हूँ आज्ञा दीजिये।" और कोई आकर शादी-विवाह के मुहूर्त अथवा सट्टा लगाने के लिये अको के विषय मे भी पूछने लगता है। इस प्रकार अनेक तरह की स्थितियाँ उनके सामने होती हैं। उस समय मुनि क्या करते है ? बहुत बार वे मौन धारण कर लेते हैं। कई कार्य ऐसे होते हैं कि उनकी आज्ञा देने पर आरम्भ-समारम्भ होता है और निषेध करने पर अनेको की सुख शाति मे बाधा पडती है। अत ऐसे अवसर पर मौन धारण करना ही उत्तम होता है।

कभी-कभी वचनो के थोडे से प्रयोग के कारण भी मनुष्य किसी जटिल बधन मे बँध जाता है और बड़ी कठिनाई से उससे छूट पाता है। एक उदाहरण लीजिए—

एक सन जगल मे मावना कर रहे थे। उनके पास एक राजा आ गया। राजा के कोई पुत्र नहीं था अत किमी ने उसे सुझाव दिया कि अमुक वन मे एक मत वारह वर्ष से मौन माधना कर रहे हैं। सेवा करके उन्हे प्रसन्न कर लेने पर वे आप की इच्छा पूरी करेगे। वारह वर्ष से वे मौन है और उससे उनमे इतनी शक्ति आ गई है कि अगर उनके मुंह से आप को वरदान मिल जाय तो निश्चय ही वह सत्य होगा।

राजा ने वही किया। खूब मन लगाकर उनकी सेवा-भक्ति की। अत मे राजा को व्याकुल और उदास देखकर सत का मन पिघल गया। वारह वर्ष के पश्चात् वे बोल पडे—'राजन ! चिन्ता मत करो, तुम्हारे यहाँ पुत्र उत्पन्न होगा।' राजा अत्यन्त प्रसन्न होकर वार-वार मुनि को नमस्कार करके चला गया।

इधर सत को ख्याल आया—'अरे राजा को मैंने पुत्र उत्पन्न होने का वरदान तो दे दिया किन्तु उमके पुत्रयोग तो है ही नही। वह घोर चिन्ता मे पड गए। सोचने लगे—वारह वर्ष पश्चात् भी विना विचारे बोलकर मैं कैसी विपत्ति मे फँस गया।

किन्तु वरदान तो मत्य करना ही था। अत उन्हे अन्त मे यह निश्चय करना पडा कि, मैं स्वय ही जाकर उनके पुत्र रूप मे उत्पन्न होऊँ।" यही हुआ। सत ने देह त्याग किया और वे राजा के यहाँ जाकर पुत्र रूप मे उत्पन्न हो गए।

उन्हे अपने पूर्वजन्म का स्मरण था। अत उन्होने पुन मौन धारण कर लिया। पुत्र के वोलने लायक वय के हो जाने पर भी जव राजा ने देखा कि वह वोलता नही तो वे वडे दुखी हुए। सोचा कि पुत्र प्राप्त हुआ पर मेरे दुर्भाग्य से गूँगा हो गया। किन्तु क्या हो सकता था। अनेक प्रकार के इलाज और जादू टोने करवाए पर सव व्यर्थ गए। राजा भाग्य को कोसता हुआ पुत्र जैसा था उसी से सतोष करने लगा।

एक दिन राजकुमार अपने अनुचरो के साथ घूमने गया। वहाँ जगल मे एक वृक्ष के नीचे वैठ गया। उसी वृक्ष पर एक कौआ भी आकर वैठा और काँव काँव करने लगा। उसे शोर मचाते देख एक व्यक्ति ने उसे जोर से पत्थर फैंक कर मारा। पत्थर नुकीला था, उससे कौए को चोट पहुँची और वह घायल होकर राजकुमार के सामने आकर गिर पडा। उसका दुख देखकर

राजकुमार का मौन टूट गया। वह कौए को लक्ष्य करके बोल पडा—'अरे तू बोला ही क्यो ?

अनुचरो ने जब राजकुमार को बोलते देखा तो वे प्रसन्न व हैरान हो गए और दौडे दौडे राजा के पास पहुँचे। राजा से उन्होंने निवेदन किया—महाराज ! राजकुमार तो आज से बोलने लगे।

राजा सुनकर हर्षविह्वल हो गए और राजकुमार के पास जाकर उससे बात करने की कोशिश करने लगे। किन्तु राजकुमार तो पुनः मौन हो गए थे। अत लाख प्रयत्न करने पर भी वे बोले नही। इससे राजा ने अनुचरो को झूठा मानकर उन्हे सजा देने का आदेश दे दिया। अनुचर राजकुमार के पैरो पर गिर पडे। राजकुमार ने तब कहा—भाई ! तुम भी क्यो बोले ?

राजा ने राजकुमार को जब अपने सामने ही स्पष्ट रूप मे बोलते देखा तो उसने राजकुमार से बहुत ही ज़िद करके इसका कारण पूछा।

अत मे राजकुमार ने कहा—"महाराज ! मैं तो वही सत हूँ जिसने तुम्हे वरदान दिया था। बारह वर्ष बाद तुम्हे वरदान देने के लिये बोलने के कारण मुझे तुम्हारा पुत्र बनकर इतना कष्ट उठाना पडा। वन मे कौआ बोला तो उसे मरना पडा और तीसरे तुम्हारे अनुचर बोले तो इन्हे सजा भुगतने की नौबत आ गई। अब तो कृपा कर मुझे पुन जगल मे जाकर अपना कल्याण करने दो। वचन के बधन मे आकर मैंने अपना कर्तव्य पूरा किया। अब शेष जीवन मे मौन रहकर साधना करते हुए बिताना चाहता हूँ।"

बधुओ ! वचनो के द्वारा सत को कितनी परेशानी उठानी पडी, यह उपरोक्त लघु कथा से आप समझ ही गये होगे। इसीलिये गाधीजी ने कहा था—

"मौन सर्वोत्तम भाषण है। अगर बोलना ही पडे तो कम से कम बोलो। एक शब्द से काम चले तो दो भी मत बोलो।"

मौन को अत्यधिक महत्व देते हुए वेदव्यास जी ने तो महाभारत के शाति पर्व मे यहा तक लिखा है :—

नापृष्ट कस्यचिद् ब्रूयान्नप्यन्यायेन पृच्छत ।
ज्ञानवानपि मेधावी जडवत्समुपाविशेत् ॥

अर्थात् किसी के प्रश्न किये बिना न बोले, तथा अन्याय से कोई प्रश्न

करता हो तब भी न बोले। मेधावी पुरुष ज्ञानवान् होकर भी मूर्ख की तरह व्यवहार करे।

इसके अतिरिक्त ऐसे व्यक्तियो को तो विशेष रूप से मौन धारण करना चाहिये जिनमे कि विवेक की कमी है। विवेकहीन पुरुष की कटु वाणी कदम-कदम पर अपने दुश्मन बनाती चलती है। क्योकि उनके कटु वाक्य सुनने वाले के हृदय मे तीर की तरह चुभ जाते हैं और उसका परिणाम उन्हें कभी कभी तो बहुत ही बुरा भोगना पडता है। 'रहीम' ने स्पष्ट कहा भी है—

रहिमन जिह्वा बावरी, कहि गई सरग पताल।
आपु तो कहि भीतर गई, जूती खात कपाल॥

वास्तव मे प्रकृति ने तो मनुष्य की जिह्वा को अत्यन्त कोमल बनाया है। अतएव इससे बोले हुए वचन भी कोमल और मधुर होने चाहिये। एक फारसी कवि ने बडी सुन्दरता से इस भाव को प्रगट किया है —

अज़ बराए नरम गुफ्तन शुद जबा बे उस्तखां।
सख्त तगो तुरश गुफ्तन नेस्त कोर आकिला॥

अर्थात् जिह्वा मे ईश्वर ने हड्डी न डालकर इसलिये कोमल रखा है कि यह कोमल शब्दो का उच्चारण करे। कटु और कठोर शब्द बोलना अक्ल-मदों का कार्य नहीं है।

अब आप लोग समझ गए होगे कि वाणी का मौन क्या है और यह मनुष्य के लिये कितना आवश्यक है।

तीसरे प्रकार का मौन काया का माना जाता है। काया का अर्थात् शरीर का मौन रखना मन तथा वचन के मौन से भी अधिक आवश्यक है।

महापुरुषो ने बताया है कि जीवो की चौरासी लाख योनियाँ हैं। हम स्वय भी अगणित प्रकार के जीव-जन्तु इस सृष्टि मे देखते है। कई आकाश मे उडते हैं, कई पृथ्वी पर चलते है और कई जीवन भर पानी मे ही अपना समय व्यतीत कर देते है। इसके अतिरिक्त विश्व इस पृथ्वी तक ही सीमित नहीं है। ऊपर स्वर्ग मे देवता और नीचे नरक मे नारक जीव निवास करते हैं। अनन्तानन्त तिर्यंच जीव भी काल यापन करते हैं।

इस प्रकार ससार मे अनन्त-अनन्त जीव है, किन्तु मनुष्य को ही ऐसी काया, विलक्षण मस्तिष्क और असाधारण विवेक मिला हुआ है, जिसके कारण

वह इन समस्त जीवो से उन्नत और श्रेष्ठ समझा जाता है। यह श्रेष्ठता इसे अनन्तानन्त पुण्यो के सचित कोप के द्वारा प्राप्त हुई है।

अब यह मनुष्य के हाथ मे है कि वह अपने चामत्कारिक मस्तिष्क, विशाल हृदय और पाँचो इन्द्रियो का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करे। शरीर और इन्द्रियो का दुरुपयोग न करना ही वास्तव मे काया का मौन है। इन्द्रियो को—विपय कषायो मे रत रखना, इनके द्वारा दूसरो को पीडा पहुँचाना, हिंसा करना, यह सब इनका दुरुपयोग है और इसके विपरीत इन्हे पर-दुख-भजन बनाकर और अशुभ प्रवृत्ति से हटाकर शुभ प्रवृत्ति मे लगाना इनका सदुपयोग करना है। जो व्यक्ति यह करता है वह शाश्वत सुख की प्राप्ति कर सकता है। कहा भी है —

मन और इन्द्रियाँ वश मे हैं हो जाती,
जिनकी चेतन मे चित्तवृत्ति रम जाती।
धारा जिन सत्पुरुषो ने सुविरति बाना,
कर कर्मनिर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना ॥

वास्तव मे देखा जाय तो समस्त ममता का केन्द्र शरीर है। शरीर पर ममत्व होने के कारण ही ससार के अन्य पदार्थों पर भी ममत्व उत्पन्न होता है। अत आत्मकल्याण के इच्छुक व्यक्तियो को सर्वप्रथम अपने शरीर का मोह छोडना चाहिये।

यह विचार करना आवश्यक है कि शरीर आत्मा से भिन्न है। सिर्फ एक पर्याय मे ही यह साथ देता है। इसलिये इस अशाश्वत शरीर का मोह छोडकर शाश्वत आत्मा के कल्याण का प्रयत्न हमे करना है। यह सोचना चाहिये कि जब शरीर ही अपना नही है तो ससार के अन्य पदार्थ तथा पत्नी, पुत्र, मित्र और परिवार आदि अपने कैसे हो सकते है? वस्तुत कोई भी आत्मा का सहचर नही है, सिर्फ पुण्य और पाप ही इसके साथ लगे रहते हैं।

पाप और पुण्य के प्रभाव से मनुष्य जन्म-मरण करता रहता है और इनको क्षीण करके ही जन्म-मरण के दुःखो से छुटकारा पा सकता है। तो मुक्ति प्राप्त करने के लिये क्या किया जाना चाहिये? यही कि समस्त इन्द्रियो को वश मे रखा जाए, दूसरे शब्दो मे काया का मौन धारण किया जाय।

शरीर की अनित्यता कोई परोक्ष वस्तु नही है। हम प्रतिदिन उसे देखते है। क्षणभगुर शरीर प्रतिक्षण बदलता रहता है। अगर ऐसा न होता

तो बाल्यावस्था, यौवनावस्था, प्रौढावस्था तथा वृद्धावस्था मे भेद कैसे होता ? युवावस्था के पश्चात् शारीरिक शक्ति का ह्रास होने लगता है और धीरे धीरे शक्ति का लेश भी नही रह जाता । अन्तत आत्मा इसे छोड जाती है । इसके अतिरिक्त यह आवश्यक नही है कि वृद्धावस्था आए ही । मृत्यु तो किसी भी समय झपट कर जीवन को समाप्त कर देती है । पहले क्षण मे मनुष्य हँसता है, बोलता है, क्रीड़ाएँ करता है और दूसरे ही क्षण शरीर चेतना रहित हो जाता है और आत्मा प्रयाण कर जाती है । तभी तो चेतावनी दी जाती है—

कबिरा नौबत आपनी दिन दस लेहु बजाय ।
यह पुर पट्टन यह गली, बहुरि न देखो आय ॥
पाचो नौबत बाजती, होत छतीसो राग ।
सो मन्दिर खाली पडा, बोलन लागे काग ॥

जन्म-मरण का यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा । न यह भग होता है और न इसमे परिवर्तन ही होता है । ससार मे अनेक महापुरुष हुए, अनन्त चक्रवर्ती और अनन्त तीर्थंकर भी हो चुके है किन्तु इस नियम को कोई भग नही कर सका । पृथ्वी को कपा देने वाले महा शक्तिशाली राजा, महाराजा भी इस पृथ्वी पर आए पर कोई भी अपने शरीर को सदा टिका नही सके । अभिमानी और महाबलवान रावण का भी अन्त एक कीडे की तरह ही हुआ ।

कहने का तात्पर्य यही है कि इस क्षणभगुर शरीर का मोह छोडकर मनुष्य अपनी समस्त इन्द्रियो को वश मे रखे । उन्हे अपनी इच्छानुसार विषय-भोगो की ओर न जाने दे । कषायो का नाश करे और मन मे एकत्व चिन्तन करते हुए शुभ विचारो को स्थान दे । गाधीजी की अमूल्य शिक्षा थी, कि बुरे दृश्य देखो मत, बुरी बात सुनो मत और बुरे वचन बोलो मत ।" वास्तव मे यही काया का मौन है । ऐसा मौन धारण करने पर ही शरीर का और इन्द्रियो का सदुपयोग हो सकता है ।

शरीर नश्वर है, अपावन वस्तुओ के सयोग से बना है, और कालान्तर मे टूट जाने वाला है, फिर भी इसका महत्त्व ससार की समस्त वस्तुओं से बहुत अधिक है । इस शरीर को पाकर ही मनुष्य धर्म-साधना कर सकता है ।

शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्

सभी धर्म-कर्मो के लिए शरीर ही सबसे पहला साधन है ।

इस शरीर-नौका के द्वारा भव-समुद्र को तैरा जा सकता है और पार

उतरने के बाद स्वय ही यह छूट जाता है। इसीलिये इस पर आसक्ति न रखते हुए भी इसको शुभ कर्मों मे लगाना आवश्यक है। जो महापुरुष ऐसा करेंगे वे अवश्य ही मुक्त बन सकेंगे।

भाइयो! काया के मौन को आप भली भाति समझ गए होंगे। अब चौथा मौन आत्मा का मौन है।

आत्मा के विभाव को स्वभाव मे परिणत करना आत्मा का मौन कहलाता है। कषाययुक्त प्रवृत्तियां करने के कारण यह आत्मा अपने लिए दु खो का बधन करती हुई स्वय अपना शत्रु बन जाती है। इसलिये विषय-कषाय रूप सागर मे डूबी हुई आत्मा को आत्म-शक्ति के द्वारा ही, विषय-कषायो पर विजय प्राप्त करके ऊपर उठाना चाहिये। पीडा मे आत्मदृष्टि मिलती है अत आत्मपीडन ही आत्मदर्शन का माध्यम माना जाता है। उसका ज्ञान होना मुक्त होने के लिये प्रथम प्रयास है। कहते हैं —

"य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपास सत्यकाम सत्यसकल्प सोऽन्वेष्टव्य स विजिज्ञासितव्य।"

— छान्दोग्योपनिषद्

अर्थात् जो आत्मा पाप रहित, जरा रहित, मृत्यु रहित, शोक रहित, भूख रहित, प्यास रहित, सत्यकाम, सत्य सकल्प है, उसे खोजना चहिये। उसे जानने की इच्छा करनी चाहिये।

आत्मा एक चेतन तत्व है, जो अपने रहने के लिये उपयुक्त शरीर का आश्रय लेता है और एक देह से दूसरी देह मे समा जाता है। यह आत्मा—

न जायते म्रियते वा विपश्चिद्—
नाय कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ कठोपनिषद्

नित्य चैतन्य रूप आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है, न यह किसी से हुआ है और न इस से कोई हुआ है —अर्थात् इसका कोई कारण या कार्य नही है। यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है और पुराण है, शरीर के मरने पर भी यह मरता नही है।

इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेने वाला पुरुष ही आत्मा को विभाव से स्वभाव मे ला सकता है। ऐसा तब हो सकता है जब वह शरीर को रथ, आत्मा को रथ मे बैठा हुआ योद्धा, बुद्धि को सारथि और

मन को लगाम माने। तभी आत्मविश्वास जागता है और आत्मविश्वास ही सफलता का मुख्य रहस्य है—

Self trust is the first secret of success

हमे विश्वास होना चाहिये कि कर्मों का बन्धन करने वाला, और कर्मों से मुक्ति दिलाने वाला अपनी आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई नही है।

"बंधमोचनकर्ता तु स्वस्मादन्यो न कश्चन।"

वास्तव मे आत्मा की सत् अथवा असत्-प्रवृत्तियो के प्रति केवल आत्मा ही उत्तरदायी है। यही अपना बन्धु और अपना शत्रु है।

बन्धुओ ! आत्म-शक्ति इतनी विशाल है कि इसका पूर्ण विकास होने पर वह तो सभी को देख सकती है किन्तु इसको कोई नही देख सकता। मनुष्य को सदा चिंतन करना चाहिये—मैं चित् अर्थात् अनन्त ज्ञान स्वरूप हू, अनन्त आनन्द स्वरूप हू, अनन्त कल्याण रूप हू, मैं ही शिव हू और मै ही परमात्मा भी हू और—

"निरामयो निराभासो निर्विकल्पोऽहमानत।
निर्विकारो निराकारो निरवद्योऽहमव्यय॥

—अपरोक्षानुभूति

अर्थात्-मैं कषाय आदि रोगो से रहित हूँ, मिथ्यात्व आदि भ्रम से परे हूँ, कल्पना रहित और विनीत हूँ। राग-द्वेष जनित सभी प्रकार के विकारो से मैं रहित हू, शरीर इन्द्रिय आदि भौतिक पदार्थों से भिन्न होने के कारण मैं पूर्णतया निराकार हू, सर्वथा निर्दोष हूँ और अनादि-अनन्त रूप होने से अव्यय हूँ, अक्षय हूँ और शाश्वत भी हू।

इस प्रकार अपनी आत्मा द्वारा ही अपनी आत्मा का विकार रहित अनन्त शुद्ध स्वरूप का ध्यान, चिन्तन मनन और अध्ययन करने से आत्मा विभाव से स्वभाव मे जाती है। यही आत्मा का वास्तविक मौन है।

आशा है आप सभी सज्जनो ने मौन का महत्व भलीभांति समझा होगा। और यह भी समझ लिया होगा कि वास्तव मे मौन किस भांति का होना चाहिये। अनेक व्यक्ति जीभ से न बोलने को ही मौन मान लेते हैं पर यही परिपूर्ण मौन नही है। मन, वचन और काय की प्रवृत्तियो का निरोध करना ही मौन का वास्तविक स्वरूप है।

इस प्रकार मौन धारण करने वाले कल्याण के भागी होते हैं।

संत-जीवन

विश्व मे अनेकानेक धर्म, सम्प्रदाय, पथ तथा मत-मतान्तर प्रचलित हैं। सभी की मान्यताएँ विभिन्न प्रकार की है। किन्तु कुछ सिद्धात ऐसे भी हैं, जिन्हे सभी धर्म एक स्वर से स्वीकार करते हैं तथा उन्हे जीवन के आतरिक तथा बाह्य दोनो क्षेत्रो मे उपयोगी मानते हैं। यहाँ तक कि उन्हे अपनाए विना जीवन कभी उच्च नही बन सकता, ऐसा विश्वास करते हैं।

ऐसे सर्वमान्य तथा महानतम सिद्धातो मे से एक है—'त्यागवृत्ति'। ससार के समस्त धर्म त्यागवृत्ति को जीवन के विकास के लिये अनिवार्य मानते हैं। त्यागवृत्ति के विना जीवन कभी शातिमय, सुखमय तथा सतोपमय नही बन सकता। जब तक मनुष्य मे सतोष और त्याग की भावना नही आती तब तक उसकी तृष्णा शात नही होती। लालसा बढती जाती है और वह परिग्रह को बढाती चली जाती है। परिणाम यह होता है कि इस लोक मे आसक्तिपूर्वक मानव जितने परिग्रह का सचय करता जाता है, आगामी जन्म के लिये कर्मों का भी सचय उसी परिमाण मे होता चला जाता है। इस लोक मे वह तृष्णा से छुटकारा नही पाता और अगले जन्मो मे दु ख से छुटकारा नही पा सकता। भगवान महावीर ने कहा है —

चित्तमतमचित्त वा, परिगिज्झ किसामवि।
अन्न वा अणुजाणाइ, एव दुक्खा ण मुच्चइ।

—सूत्रकृताग, १-१-२

अर्थात्—जो मनुष्य सचित्त या अचित्त थोडी या अधिक वस्तु ममता की भावना से रखता है, अथवा दूसरे को परिग्रह रखने की अनुज्ञा देता है, वह कभी दु ख से छुटकारा नही पाता।

मनुष्य के पास जब परिग्रह की मात्रा बढ जाती है, धन-वैभव विपुल हो जाता है तो उसका मन स्वभावत भोगो की ओर आकर्षित होता है। भोगो मे उसे रस आता है और वासनाओ के अविराम प्रवाह मे वह बहता चला जाता है। मोह के प्रबल उदय मे मनुष्य नेत्रवान होते हुए भी अधा,

कान होते हुए भी बहरा और चेतन होते हुए भी जडवत् बन जाता है। वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर भौतिक पदार्थों की ओर उन्मुख हो जाता है। आसक्ति बढती जाती है और विषय-भोग की लालसा के नवीन-नवीन अकुर फूटते रहते है।

किन्तु विरले व्यक्ति ऐसे भी होते है जो अपनी वासनाओ और भोग-लिप्साओ पर विजय प्राप्त कर लेते है। उन्हे भोग रोग की तरह मालूम होते है और विलास विनाश की तरह दिखता हुआ सा जान पडता है। दुनिया के क्षणिक सुख मौत की तरह भयानक लगते है। ऐसे विषय-भोगो की वासनाओ के विजेता पुरुष इनसे विमुख और विरक्त हो जाते हैं। उनकी अन्तर्दृष्टि जाग उठती है और वे त्यागवृत्ति को अपनाकर आत्मा के उत्थान तथा कल्याण की साधना मे जुट जाते हैं। इन्ही महान आत्माओ को ससार 'सत' की सज्ञा से विभूषित करता है।

सत-वृत्ति एक ऐसी कसौटी होती है, जिस पर मनुष्य के धैर्य, साहस, सयम, सहनशीलता, शान्ति तथा सतोष की परख होती है। साधुवृत्ति धारण करके मनुष्य को सभी वासनाओ और कामनाओ का उन्मूलन करना पडता है। साधारण जन के लिये तो अपनी एक इन्द्रिय को वश मे करना भी बडा कठिन होता है किन्तु संत अपनी समस्त इन्द्रियो को वश मे करते है, इच्छाओ का निरोध करते हैं और मन पर पूर्ण नियत्रण रखते है।

साधना के मार्ग पर दृढ आत्म-शक्ति से सम्पन्न पुरुष ही चल सकते हैं, कायर पुरुष नही। ऐसे कायर मनुष्य जिन्हें साधुजीवन की चर्या का तनिक भी अनुभव नही होता, त्याग के मार्ग पर जो एक कदम भी नही रख सकते वे अज्ञानवश कहते है कि—साधु-जीवन तो बहुत मजा-मौज का जीवन है। न कमाई करनी पडती है और न ही कुछ चिन्ता। यथासमय उत्तम भोजन तैयार मिल जाता है और इच्छानुसार वस्त्र प्राप्त होते रहते हैं। सेवा कार्य के लिये शिष्य-समुदाय होता ही है। ऊपर से बड़े-बडे भक्त आकर चरणो में सिर झुकाया करते हैं। मनुष्य को और चाहिये ही क्या ?"

ऐसे व्यक्तियो का प्रलाप एक क्षण मे समाप्त हो जाता है, और सारी उछल-कूद बन्द हो जाती है जब उनसे कहा जाता है कि—'भाई ! जब साधु-जीवन इतना आनन्दमय है तो क्यो नही तुम भी साधु हो जाते ?'

मुनिवेश धारण करके स्वच्छन्द आचरण करना दूसरी बात है किन्तु सच्ची मुनिवृत्ति वास्तव मे सरल चीज नही है। लोहे के चने चबाने के समान

है। भोगो से विमुख रहकर एकाग्र चित्त से भावना किये बिना सयम का पालन नही होता। जैन शास्त्रो मे कहा भी है

अहीवेगत दिट्ठीए, चरित्ते पुत्त ! दुच्चरे ।
जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा सुदुक्कर ।।

—उत्तराध्ययन १६-३६

अर्थात्-सर्प की एकाग्र दृष्टि की तरह एकाग्र मन रखते हुए चारित्र पालना अत्यन्त दुष्कर है। और लोहे के चनो को चबाने के समान सयम पालना अत्यत ही कठिन है।

ससार के कार्य कोई तो बुद्धिबल से, कोई मनोबल से और कोई शरीर की सहन-शीलता मे होते हैं। किन्तु साधु-जीवन का पालन करने के लिये इन तीनो की अनिवार्य आवश्यकता है। यह मार्ग शूलो से भरा हुआ है। अतएव कमजोर और कायर मनुष्य इस पर नही चल सकते। वे प्रथम तो इस वृत्ति को अगीकार ही नही कर सकते, कदाचित् अङ्गीकार कर लेते हैं तो उसका पालन नही कर पाते उसमे पतित हो जाते है।

सत-जीवन तथा साधारण जनता के जीवन मे महान् अन्तर होता है। सत अपनी अनेक विशेषताओ के कारण साधारण व्यक्तियो से ऊचे उठ जाते है। उन विशेषताओ का ज्ञान होना आवश्यक है, अत. उनके विषय मे कुछ बताने का प्रयत्न करता हूँ।

साधु-वृत्ति की प्रथम विशेषता है—'सयम'। सत-जीवन मे सर्वप्रथम सयम का स्थान है। शास्त्रो मे कहा गया है—'हत्थसजए, पायसजए' मन और इन्द्रियो पर सयम रखने के साथ ही, अपने हाथो तथा पैरो पर भी सयम रखना चाहिये। सयम मन, बुद्धि एव अपनी आत्मा पर अनुशासन है जो स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता है। इसमे आत्मा उत्पथ मे जाने से रुक जाती है।

आधुनिक समय मे अनेक रोगों को रोकने के लिये टीका लगाये जाते है। टीका लगाने का आशय होता है रोग को आने से ही रोक देना। सयम भी एक तरह से टीका के ही समान है। अगर साधक मन और इन्द्रियो पर सयम रखता है तो दोषो की उत्पत्ति ही नही हो पाती। उनका प्रवेश निषिद्ध हो जाता है।

साधु-वृत्ति का पालन करने के लिये महान् शक्ति की आवश्यकता होती है और वह शक्ति सयम के द्वारा ही प्राप्त होती है। एक पाश्चात्य

विद्वान् ने कहा भी है—

"Most powerful is he who has himself in his own power"
—अर्थात् जो आत्मसंयमी है वही सर्वाधिक शक्तिमान् है।

संत-जीवन की प्रत्येक क्रिया संयम को लक्ष्य मे रख कर ही की जाती है। संत त्याग, तपस्या, भावना, सब कुछ संयम को सन्मुख रख कर करते है, यहा तक कि जिस प्रकार उपवास संयम की भावना के लिये करते हैं उसी प्रकार आहार भी वे संयम की रक्षा के लिये ही करते हैं। बारह प्रकार की तपस्याओं मे भिक्षाचरी को भी एक तपस्या माना गया है। अत. साधु की भिक्षाचर्या भी तपस्या है। जैसे सर्प सीधा बिल मे प्रवेश करता है उसी प्रकार आहार का कवल उनके मुख मे जाता है। आस्वादनवृत्ति का परित्याग करके वे आहार करते हैं—यहाँ तक कि, एक जबडे से दूसरे जबड़े मे संक्रान्त नहीं करते।

इस प्रकार रसना-सुख से उदासीन रहते हुए आहार करना तपोमय नही तो क्या है? इनके अतिरिक्त संतो का बोलना और मौन रखना भी संयम के अन्तर्गत है और पूर्ण रूप से अहिंसा का पालन करने के कारण चलना और बैठना भी संयम का ही अंग है। मुनियो के लिये कष्ट सहन करना, उनके नित्य-जीवन का एक साधारण अंग बन जाता है। फिर असावधानी से या सहज दुर्बलता से किसी नियम का भंग हो जाता है या किसी दोष का संस्पर्श हो जाता है तो सच्चे संत उसके लिए पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त करते हैं।

विचारपूर्वक देखने से विदित होगा कि सांसारिक भोग-विलासो का बाह्य रूप में त्याग करना ही महा कठिन होता है किन्तु साधु को तो मान, प्रतिष्ठा, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध तथा कषायादि आन्तरिक दुर्वृत्तियो का भी परित्याग करना पडता है। इन्द्रियो पर पूर्ण संयम रखते हुए सच्चा साधु मन की नकेल को अपने हाथों में रखकर उसका स्वामी बना रहता है। मन के अत्यंत चंचल व निरंकुश होने के कारण वह अपने मन पर अंकुश रखता हुआ उसे सदा ही ताडना देता रहता है, कहता है—

पतित पशुरपि कूपे, नि सर्तुं चरणचालनं कुरुते।
धिक् त्वा चित्त! भवाब्धेरिच्छामपि नो बिभर्षि नि सर्तुम्॥

अर्थात्—कुएं मे गिरा हुआ पशु भी उसमें से निकलने के लिये पैर चलाता है, प्रयत्न करता है। किन्तु रे मन! तुझे धिक्कार है, तू भवसागर से निकलने की इच्छा तक नहीं करता!

वास्तव मे मन पर सयम रखना ही सच्चा साधुत्व है। वचन और शरीर मन की प्रेरणा से ही कार्य करते है। वे दोनो मन के अनुचर हैं। अत उनकी साधना की अपेक्षा भी मानसिक साधना का मूल्य अधिक है। शरीर और वचन से शुभ क्रिया करते समय भी अगर मन मे अशुभ विचारो की भाग-दौड होती रहती है तो अशुभ कर्मों का बन्ध होता है। शरीर की क्रियाएँ शुभ फल नही दे पाती। शुभ और अशुभ कर्मो का बन्ध मन के शुभ और अशुभ परिणामो के द्वारा होता है।

कहते है, दो मित्र सायकाल के समय भ्रमण के लिये निकले। एक ने कहा—दोस्त ! चलो भागवत की कथा सुन आएँ। किन्तु दूसरे को कथा मे रस नही आता था अत वह भागवत सुनने के लिये तैयार नही हुआ और किसी 'मुजरे' मे चला गया। किन्तु मुजरे मे उसका मन शीघ्र ही ऊब गया और वह सोचने लगा—ओह ! मैं कैसी बुरी जगह आकर फस गया। मेरा मित्र धन्य है जो धर्मश्रवण कर रहा होगा और उसका हृदय भगवान् की वाणी का आनन्द ले रहा होगा।

दूसरी ओर भागवत की कथा मे बैठा हुआ व्यक्ति भी उकता गया और सोचने लगा—'मेरे मन मे क्या दुर्बुद्धि उपजी जो मैं इस नीरस कथा को सुनने चला आया। मेरा मित्र भाग्यवान् है जो इस समय मधुर नाच-गान और मुजरे का आनन्द ले रहा होगा।

मरने के पश्चात् अपने विचारो के कारण भागवत सुनने वाला नरक मे गया और वेश्या के यहाँ जाने वाला स्वर्ग मे गया। इससे ज्ञात हो जाता है कि मनुष्य की गति भावो के अनुसार होती है। नाना प्रकार की क्रियाएँ करने से अथवा भेष धारण कर लेने से ही कभी मुक्ति प्राप्त नही होती। कवि सुन्दरदास जी ने कहा है—

जगल मे जाए कहा, पान, फल खाए कहा,
बाल के बढाए कहा, अंग रह्यो नगा है।
द्वारिका को जाए कहा छाप को लगाए कहा।
मूड को मुडाए कहा, छार लाए अंगा है।।
जीया ! जग माहि ऐसे भेस धरे होत कहा ?
होत मन शुद्ध तब गेह माहि गगा है।।

सत्य ही, जब तक मन स्थिर और शुद्ध नही होता तब तक सिर्फ फल-फूल खाकर जगल मे रहने से, बाल बढाने से शरीर को नग्न रखने अथवा भभूत

चुपडने से, तीर्थयात्रा करने से अथवा तिलक छापे आदि लगाने मे भी कोई फायदा नही होता। इसके विपरीत वाह्य क्रियाओ को अधिक महत्व न देते हुए भी मन पर जो व्यक्ति सयम रखते हैं वे कालान्तर मे मुक्ति के अधिकारी बन पाते हैं। सतो के जीवन का यही सर्वप्रथम और महत्वपूर्ण सिद्धात होता है।

सतो की दूसरी विशेषता है अनासक्ति भाव। जब अनासक्ति की भावना उत्पन्न हो जाती है तब जन्म-जन्मान्तर के मोहमय सस्कारो पर स्वत ही विजय प्राप्त हो जाती है। अनासक्त साधक को सदा ही स्मरण रहता है कि विषय-भोगो के प्रबल आकर्षण आत्मा को अधोगति की ओर धकेलने वाले है। ससार के सुखो मे आसक्त रहने, और दुखो से दूर रहने का ही प्रयत्न जो करता रहता है वह आत्मकल्याण कब कर सकता है? सच्ची आध्यात्मिक साधना वही साधक कर सकता है जो सासारिक सुख और दुख का ज्ञान होने पर भी उनसे बचने अथवा उन्हे अपनाने का प्रयत्न नही करता, उनकी परवाह नही करता।

सुखो और दुखो से ससार मे कोई भी बच नही सकता किन्तु उनके अनुभव करने मे भिन्नता होती है। सिद्ध, सत, ससारी तथा जड-चार प्रकार की श्रेणिया होती हैं।

सिद्धो को भी सुख व दुख का ज्ञान होता है किन्तु उन्हे इनका स्पर्श नही होता।

सतो को सुख और दुख का ज्ञान होता है, स्पर्श भी होता है किन्तु दोनो की वासना से वे अलग रहते है।

तीसरी श्रेणी ससारियो की है। उन्हे सुख-दुख का ज्ञान होता है, स्पर्श होता है और इन दोनो की वासना मे वे लिप्त रहते हैं।

चौथी जड वस्तुएँ होती है, जिनके विषय मे आप और हम सभी जानते है कि उन्हे सुख-दुख के ज्ञान, स्पर्श अथवा वासना किसी की भी अनुभूति नही होती।

तो हम अभी सतो के विषय मे विचार-विमर्ष कर रहे है। वे सुख या दुख की वासना से रहित होते हैं। उन्हे सुख प्राप्त हो अथवा दुख-दोनो स्थितियो मे सम-भाव का अनुभव होता है। वे किसी भी प्रकार की कामना अथवा इच्छा नही रखते। यहाँ तक कि मोक्ष-प्राप्ति की कामना भी वे नही करते। कहा भी है :—

मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनि-सत्तम ।

यानी मुनि को मोक्ष-प्राप्ति के विषय मे भी निस्पृह होना चाहिये । मोक्ष की कामना भी मनुष्य के लिये आर्त-ध्यान का कारण बन सकती है इसलिये गीता की अविस्मरणीय ध्वनि है—"फलासक्ति छोडो और कर्म करो" "निष्काम होकर कर्म करो ।" और "आशारहित होकर कर्म करो ।" गीता मे अर्जुन से श्री कृष्ण ने कहा है —

तस्मादसक्त सतत कार्यं, कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म, परमाप्नोति पूरुष ॥ गीता

अर्थात् फल की इच्छा छोडकर निरन्तर कर्तव्य कर्म करो । जो फल की अभिलाषा छोडकर कर्म करते हैं उन्हे अवश्य मोक्ष-पद प्राप्त होता है ।

फलप्राप्ति की कामना से किये जाने वाले कार्य और साधना मे स्वार्थ निहित होता है । और जब हृदय मे स्वार्थ की भावना होती है तो उसमे और अधिक पाने की लालसा भी जुड जाती है । इसी लालसा को हम तृष्णा कहते है । तृष्णा के द्वारा सचय किये हुए पदार्थो से परिग्रह बढता जाता है और परिग्रह बढने मे उन सभी वस्तुओ मे आसक्ति पैदा हो जाती है मनुष्य की आसक्ति धन-सपत्ति मे अधिकतर पाई जाती है । हमारे शास्त्रो ने धन-वैभव को दु ख का कारण बताया है । और हमारा अनुभव भी हमे यही बताता है । फिर भी मानव दुर्बुद्धि के वशीभूत होकर धन को सुख का एकमात्र साधन मानता है । किन्तु जिस समय इस लोक से प्रयाण करने का वक्त आता है उस समय वास्तविकता का पता चलता है जब कि एक कौडी भी मनुष्य का साथ नही देती ।

महान् सम्राट् सिकन्दर ने मृत्यु के समय अपनी समस्त सम्पत्ति को एकत्र किया और उस पर अश्रुपात किया । उसने बार-बार कहा —"हाय ! इस अपार सम्पत्ति मे से एक कौडी भी मेरे साथ जाने वाली नही है और इसी के लिये मैंने जीवन भर युद्ध किये । अनगिनती माताओ को पुत्रविहीन व पत्नियो को सुहागरहित बना दिया । मैंने कितनी भयानक भूल की ।"

सिकन्दर की अतिम आज्ञा यही थी कि "मृत्यु के पश्चात् मेरे दोनो हाथ कफन से बाहर रखना, ताकि लोग देख सके कि मेरे हाथ बिलकुल खाली है और इसने लोग सोच सके कि जो मूर्खता सिकन्दर ने जीवन भर की, वह इम न करें ।"

जब तक मनुष्य धन-सम्पत्ति मे आसक्त होकर उससे सुख-प्राप्ति की आशा करता है तब तक वह शाति का अनुभव नही कर सकता। वास्तविक सुख का भडार तो आत्मा मे ही है। आत्मा मे रमण करने से ही अपार सुख की प्राप्ति हो सकती है किन्तु आत्मा मे रमण करना तब तक सभव नही होता जब तक कि बाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति, और कामना बनी रहती है। बाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति कम होने पर ही आत्म स्थिति का भान होता है। इसीलिये भगवान् महावीर ने आदेश दिया है कि-मनुष्य अपनी दृष्टि बाहर की ओर से हटाकर अदर की ओर करे। आत्मा ही अक्षय सुख का भडार है। सुन्दर कवि ने भी कहा है —

आप ही के घट मे प्रगट परमेश्वर है,
ताहि छांड भूल नर दूर-दूर जात है।
सुन्दर कहत गुरुदेव दिये दिव्य नयन,
हृदय-आकाश माहि प्रभू जू दिखात हैं।

ससार के सभी महान् विचारक इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि आत्मा ही परमात्म-स्वरूप है। दिव्य दृष्टि प्राप्त होने पर आत्मा का स्वरूप परमात्मा के रूप मे दृष्टि-गोचर होने लगता है और प्रतीत होता है कि वहाँ सुख का अनत स्रोत बह रहा है। ससार का समस्त वैभव, हीरे जवाहिरात, आत्मानद का अनुभव करने वाले के लिये ककर-पत्थर के समान हो जाते हैं। और ऐसे ही सत व्यक्ति शाश्वत सुख की प्राप्ति करते हैं।

सिकन्दर ने जिस परम सत्य को मृत्यु के अवसर पर जाना सत-व्यक्ति उस सत्य को अपने जीवन काल मे ही समझ पाते हैं।

कपिल ब्राह्मण एक दिन अर्ध-रात्रि को यह विचारकर घर से निकला कि राजा से दो माशा सोना प्राप्त करूँगा। रात्रि मे घूमता देखकर पहरेदारो ने उसे चोर समझ लिया और राजा के समक्ष उपस्थित किया।

कपिल ने राजा को अपनी दरिद्रता के विषय मे बताया और राजा को उसकी दरिद्रता देखकर दया आ गई। उन्होने कपिल से कहा—तुम्हारा जो जी चाहे मुझसे माग लो।

कपिल को यह अवसर मिला तो उसने विचारना शुरू किया कि मैं क्या मागूँ। यद्यपि वह सिर्फ दो माशा सोना माँगने के लिए घर से रवाना हुआ था किन्तु इस सुनहरे अवसर को पाकर उसका लालच बढ गया। उसने सोचा—दो माशे सोने से क्या होगा? दो सेर सोना माँग लूँ। वह भी कम

लगा तो उससे अधिक, और वह भी कम मालूम हुआ तो और अधिक, इस तरह विचारते हुए उसका मन आधा राज्य और उसके भी बाद पूरा राज्य माँगने का विचार करने लगा।

किन्तु अचानक ही उसका ज्ञान जागृत हुआ और वह अपनी लालसा का बढ़ता हुआ रूप देखकर भयभीत हो गया। विचार करने लगा कि दो माशे सोने से बढ़ते-बढ़ते मन पूरे राज्य की आकांक्षा करने लगा है पर तब भी तृप्ति नहीं होती। लगता है कि मन धन की लालसा से तो कभी तृप्त नहीं होगा। इससे तो अच्छा है कि मैं इस लालसा का अंत करके मन को शिक्षा दूँ।

उसी क्षण वह वहाँ से सीधा वन जाने को उद्यत हो गया। राजा ने चकित होकर पूछा - ब्राह्मण देवता! बिना कुछ माँगे ही क्यों चल दिये?

कपिल बोला—राजन! अब मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं रही। सच ही है —

> जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ।
> दो मासकय कज्ज, कोडीए वि ण णिट्ठिय॥

उत्तराध्ययन सूत्र, ८-१७

अर्थात् ज्यों-ज्यों लाभ होता है त्यों-त्यों लोभ बढ़ता है, लाभ से लोभ की वृद्धि होती है। दो माशा सोने से होने वाला कार्य करोड़ों मुहरों से भी पूरा नहीं हुआ।

इसीलिये सन्त-जन वैभव को ठोकर मार देते हैं और धन-सम्पत्ति से मुँह मोड़ लेते हैं। इसके अलावा वे कुटुम्ब, परिवार, स्वजन अथवा परिजन किसी से भी आसक्ति नहीं रखते। जब तक गृहस्थाश्रम में रहते हैं तब तक कर्त्तव्य समझकर परिवार का पालन-पोषण तथा सेवा शुश्रूषा करते हैं और समय आते ही सबसे आसक्ति हटाकर संयम ग्रहण कर लेते हैं। सबन्धियों से ममत्व हटाने में उन्हें क्षण भर भी नहीं लगता। सच्चे मोक्षाभिलाषी साधक के हृदय में निरंतर यह भावना बनी रहती है —

> दारा परिभवकारा, बन्धुजनो बन्धन विष विषया।
> कोऽय जनस्य मोहो, ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा?॥

अर्थात्—दारा (पत्नी) पराभव करने वाली है। बन्धु-बांधव बन्धन रूप हैं। विषयभोग विष के समान हैं। फिर भी मनुष्य इन सब के मोह में पड़कर-

कर इतना मूढ बन जाता है कि वह शत्रुओ मे मित्र की भावना रखता है।

अनासक्ति की इतनी तीव्र भावना उत्पन्न होने पर ही मनुष्य मोह को जीत सकता है। इसके लिये गभीर साधना की आवश्यकता होती है। विषय-भोगो के प्रवल आकर्षण से छुटकारा पाने के लिये महान् शक्ति चाहिये। त्यागवृत्ति को धारण करना ही वडे साहस का कार्य है और उसे आजीवन निभाना तो मानो तलवार की धार पर चलना है। उसके लिये वडी कठोर चर्या को अपनाना पडता है जो कि सतो के अलावा और किसी के लिये सभव नही है।

जैन साधु तथा साध्वियो के लिये जिन पाँच महाव्रतो का विधान किया गया है, उनकी साधना करना कोई हँसी खेल नही है। धन-सपत्ति के नाम पर एक पाई भी नही रखना, रात्रि मे भोजन और पानी तक भी ग्रहण न करना, भयकर शीत-उष्ण आदि बाईस परिषहो को सहन करना, नगे सिर और नगे पैरो से सदा पैदल यात्रा करना, हाथो से केशलुञ्चन करना, कभी भी हरी वनस्पति का सेवन न करना, रूखा-सूखा जैसा भी आहार मिल गया, उदरस्थ कर लेना और न मिले तो प्रसन्नतापूर्वक फाके करना। क्या यह सब सन्तो के अलावा और किसी के द्वारा सभव है ? नही। कारण यह है कि साधु सुख और दुख दोनो को ही समान भाव मे ग्रहण करते है। न उन्हे सुख के अनुभव पर प्रसन्नता होती है और न दुख आने पर शोक ही होता है। न वे अपनी स्तुति सुनकर खुश होते है और न ही निन्दा अथवा गाली सुनकर क्रोध अथवा दुख का अनुभव करते हैं। गुरु नानक ने भी सच्चे सन्तो के लक्षण बताए हैं —

हरष-शोक जाके नहीं, वैरी-मीत समान।
कहे नानक सुन रे मना ! मुक्त ताहि ते जान॥
इस्तुत निंद्या नाहि जिह, कंचन लोह समान।
कहे नानक सुन रे मना ! मुक्त ताहि ते जान॥

(श्लोक महल्ला ९)

आशय यही है कि सच्चे सत की कुटुम्ब-परिवार, धन-वैभव, भोजन-वस्त्र, आदि किसी मे भी आसक्ति नही होती। जैसा मिल गया खा लिया और जैसा मिल गया पहन लिया।

वैष्णव सम्प्रदाय की एक लघु कथा है - सन्त दादू जी के पास सुन्दर-दास जी ने साधुपना ग्रहण किया। ठीक शादी के वक्त ही सुन्दरदास जी को सासारिक प्रपचो से विरक्ति हो गई और वे दूल्हे के वेश मे ही दादू जी के पास चले आए और उसी समय सत बन गए।

वैष्णव सन्तों के कपडे यद्यपि भगवे रग के होते हैं किन्तु दादू जी ने सुन्दरदास जी को वही दूल्हे की पोशाक पहने रहने दी। उन्हे भगवे रग के कपडे नही पहनाए। अन्य शिष्यों को यह अच्छा नही लगा किन्तु उन्होंने यह सोचकर सब्र कर लिया कि इस पोशाक के फट जाने पर तो हमारे जैसे ही वस्त्र इन्हे भी दिये जाएँगे।

पर जब अगले वर्ष भगवे रग की चद्दरे वितरण की गई तब भी सुन्दरदास को वही कीमती दूल्हे की पोशाक दी गई और इससे शिष्यसमुदाय मे खलबली मच गई। शिष्यों ने जाकर गुरुजी से पूछा —गुरुदेव ! यह पक्षपात क्यों ?

दादू जी ने कहा—समय आने पर बतलाऊँगा। शिष्य मन मारकर रह गए। कुछ समय बाद एक बार दादू जी अपने समस्त शिष्यों सहित कही जा रहे थे। मार्ग मे एक नदी आई। उसमे पानी नही था वरन कीचड ही कीचड था।

गुरुजी ने शिष्यों से कहा—ऐसा कोई उपाय करो जिससे मेरे पैर खराब न हों और इस कीचड से पार हो जाऊँ। उनके सारे शिष्य विचार करने लगे कि क्या करे ? किन्तु सुन्दरदास जी उसी क्षण जाकर कीचड मे लेट गए और बोले – गुरुजी ! आप मुझ पर पैर रखते हुए इस कीचड से पार हो जाइये।

दादूजी ने उस अवसर पर अपने शिष्यों को बताया देखो ! तुम लोगो को सुन्दरदास के राजसी वस्त्रों के लिये ईर्ष्या थी किन्तु आज जान लो कि सुन्दरदास को अपने वस्त्रों मे तनिक भी आसक्ति नही है। तुम लोगों मे से तो कोई भी अपनी चद्दर मैली करने को तैयार नही हुआ किन्तु सुन्दरदास ने अपने कीमती वस्त्रों की तनिक भी परवाह नही की। अनासक्ति ही सच्चे साधु का लक्षण है।

सन्त-जीवन की तीसरी विशेषता है—'स्वतन्त्रता'। स्वतन्त्रता सन्तों का महान् गुण है। अपनी इच्छानुसार वे विचरण करते है या कि किसी स्थान पर ठहरते है। उनपर किसी का कोई प्रतिबन्ध नही रह सकता। उन्हे न किसी के निमन्त्रण की आकाक्षा होती है और न ही किसी की उपेक्षा की परवाह। अपनी साधना, तपस्या, स्वाध्याय ध्यान-गान आदि सभी मे सन्त आत्मनिर्भर रहते है। सक्षेप मे वे स्वय अपने स्वामी होते है। और सभी स्वतन्त्रता का आनन्द अनुभव करते है। किसीने कहा भी है —No man is free who is

not master of himself—"वह व्यक्ति स्वतत्र नही है जो अपना स्वामी स्वय नही है।

सन्तो को किसी से भी भय नही होता चाहे मौत भी उनके सामने आ जाए। उनकी दृष्टि मे बादशाह और फकीर सभी समान होते है। न उन्हे राजा-महाराजाओ को प्रसन्न करके उनकी कृपादृष्टि प्राप्त करने की इच्छा होती है और न उनकी टेढी निगाहो से रच मात्र भी भय लगता है। दबाव डालकर उनसे कोई कुछ भी नही करा सकता।

अकबर बादशाह के शासन-काल मे दिल्ली से बाहर एक तकिया था। वहाँ पर कोका नामक एक फकीर रहता था। वह सोना बनाने का मत्र जानता था।

अकबर को इस बात का पता चला तो वह कोका के पास वह विद्या सीखने के लिये बडे ठाट-बाट मे आया। और फकीर को मत्र सिखा देने के लिये आज्ञा दी।

किन्तु फकीर ने उत्तर दिया—बादशाह ! मै यह विद्या किसी गरीब को सिखाऊँगा, तुम्हे नही ! तुम्हारे पास तो वैसे ही असीम वैभव है।

बादशाह को क्रोध आ गया और वह गुस्से से बोला—फकीर ! अभी तो मैं भक्ति मे सीखने आया हूँ अगर नही सिखाओगे तो अपनी शक्ति से तुम्हे सिखाने के लिये बाध्य करूँगा। अगर अपने जीवन की फिकर हो तो फौरन मुझे वह मत्र दे दो।

पर फक्कड फकीर को किस बात की फिकर थी। मुस्कराते हुए वह बोला—

फिकर सबको खात है, फिकर सबका पीर।
फिकर का फाका करे, ताको नाम फकीर ॥

बादशाह सलामत ! फकीर को किस बात की फिकर ? तुम्हारी जो इच्छा हो करो, मैं तुम्हे तो न भक्ति मे ही वह विद्या सिखाऊगा और न शक्ति मे ही।

आगबबूला होकर बादशाह ने अपने अनुचरो को आज्ञा दी कि – फकीर को कोडे लगाओ। कोडे खाते हुए भी फकीर के चेहरे पर एक भी शिकन नही आई। नाही वह कुछ बोला। हारकर अकबर अपने दल-बल सहित वापिस चला गया।

महल मे पहुँचने के पश्चात् अकबर को बडा पश्चात्ताप हुआ। उसके मन ने उसे धिक्कारा और कहा — बादशाह ! तुझे विद्या सीखने को कला नही आई और व्यर्थ ही एक फकीर को कोडो से पिटवा कर असह्य तकलीफ दी।

अपनी भूल का प्रायश्चित्त करने के लिये अकबर ने फकीर का वेश धारण किया और पुन कोका के पास आया। उसकी तसल्लीम की और वही रहकर फकीर की सेवा मे जुट गया। कुछ दिनो के बाद कोका जब पूर्ण स्वस्थ हो गया तो फकीर-वेशधारी अकबर ने उससे जाने की इजाजत मागी।

फकीर ने कहा — तुम्हारी भक्ति और सेवा से मुझे बडी खुशी हुई है। आओ ! जाने से पहले मैं तुम्हे सोना बनाने की विद्या सिखा देता हूँ। अकबर ने इन्कार किया किन्तु वृद्ध फकीर ने कहा—मेरा क्या ठिकाना है ? अगर मर जाऊँगा तो यह विद्या मेरे साथ ही समाप्त हो जाएगी अत तुम अवश्य सीख लो।

अकबर ने तब अपना भेद बता दिया कि वह कौन है ! किन्तु कोका ने सस्नेह कहा—अकबर ! उस समय तुम बादशाह बनकर रौब मे मत्र सीखने आए थे अत मैंने इन्कार कर दिया था। पर आज तुम फकीर बने हुए मेरे पास हो अत मुझे तुम्हे विद्या सिखाने मे कोई उज्र नही है। किन्तु इतना अवश्य करना कि मुझसे सीखी हुई विद्या मे जो सोना बनाओ उसे सिर्फ पारमार्थिक कार्यों मे ही लगाना।

अकबर ने फकीर की आज्ञा शिरोधार्य करते हुए विद्या सीखी और प्रसन्नतापूर्वक अपने स्थान को लौट गया। कहते है कि उस विद्या से अकबर ने कोकाशाही मोहरे बनवाई और उन्हे जनता की भलाई के कार्यों मे लगाया।

बधुओ ! कहने का तात्पर्य यही है कि फकीरो पर किसी शक्ति का प्रयोग नही हो सकता। वे नम्रता तथा विनयपूर्वक ही जीते जा सकते हैं। और जो कुछ भी उनसे हासिल किया जा सकता है वह सिर्फ विनय के द्वारा ही। फकीर और सत अपनी आत्मा की प्रेरणा से ही कार्य करते हैं, किसी के दबाव या भय से वे नही झुकते। सदा अपने मे ही मस्त रहते है।

सतो की एक महान् विशेषता और है। वह है 'निर्भयता।' भय पाप और पतन का कारण होता है अत सत इसे तिलाजलि दे देते हैं। जीवन मे कोई भी स्थिति उनके लिये भय का कारण नही बन पाती। भर्तृहरि ने एक बडा सुन्दर श्लोक कहा है —

भोगे रोगभय कुले च्युतिभय, वित्ते नृपालाद् भय ।
माने दैन्यभय बले रिपुभय, रूपे जराया भय ॥
शास्त्रे वादभय गुणे खलभय, काये कृतान्ताद् भय ।
सर्व वस्तु भयावह भुवि नृणा, वैराग्यमेवाभयम् ॥

—भर्तृहरि

अर्थात् —भोगो मे रोग का भय है, ऊँचे कुल मे पतन का भय है, धन मे राजा का, मान मे दीनता का, बल मे शत्रु का तथा रूप मे वृद्धावस्था का भय है । साथ ही शास्त्र मे वाद-विवाद का, गुण मे दुष्ट जनो का तथा शरीर मे काल का भय होता है । इस प्रकार ससार मे मनुष्यो के लिये सभी वस्तुएँ भयपूर्ण होती है । बस, भयमे रहित तो केवल वैराग्य अवस्था है ।

वैराग्यावस्था को प्राप्त कर लेने वाले साधु को इनमे से किसी का भी भय नही रह जाता । धन, मान, विषय-भोग, शत्रुता, कुलाभिमान, अभिमान आदि सभी को वे त्याग देते है । यहाँ तक कि मृत्यु का भी उन्हे डर नही रहता । साधु पुरुष बडी धीरता और वीरता के साथ क्षमा, दया, सत्य, सदाचार आदि शस्त्रो को लेकर कर्मरूपी शत्रुओ के साथ युद्ध करते है । वह अपनी समग्र शक्तिया लोककल्याण मे लगाते है । और साथ ही साथ अपनी आध्यात्मिक साधना मे भी तत्पर रहते हैं । वह अपनी साधना को ऐसा बना लेते है कि उनके लिये विश्वकल्याण और आत्मकल्याण मे मानो कोई अतर ही नही रह जाता । साधना के इस जीवन मे किसी भी प्रकार की तकलीफे आएँ, मारणान्तिक उपसर्ग भी क्यो न आ जाएँ, साधु विचलित नही होता । वह किसी भी क्षण शरीर त्याग देने को तैयार रहता है । क्योकि शरीर की नश्वरता और क्षणभगुरता को वह अच्छी तरह से जानता है और यह भी जानता है कि ससार के इस क्षणिक विश्रामगृह के अलावा यह शरीर कही भी साथ नही देता ।

वास्तव मे ही मृत्यु का आगमन होनेपर ससार की कोई भी शक्ति मनुष्य को नही बचा सकती । समस्त औषधिया और विलासिता की सामग्रियाँ यही धरी रह जाती हैं । सगे सबधी टुकुर टुकुर देखते रहते है और आत्मा प्रयाण कर जाती है । कवि ने कितने मर्मस्पर्शी शब्दो मे कहा है

बने रहे बटना बनाए रहे भूषण भी,
अतर फुलेलन की शीशियाँ धरी रहीं ।

तनी रही चादनी, सुहानी रही फूल-सेज,
मखमल तकियों की पंक्ति करी रही।
बने रहे नुस्खे त्रिफले माजून कन्द,
खुरस खमीरा याकूतियाँ परी रहीं।
उड गयो बीच मे ते हस जो सुन्दर हुतो,
बस यह शरीर अरु खोपरी परी रही ॥

तो ऐसे अनित्य और क्षणभगुर शरीर की सच्चा सत क्या परवाह करेगा ! किसी भी क्षण हृदय की धडकन बन्द हुई और समझो खेल खत्म हुआ। फिर कुटुम्ब-परिवार, धन-दौलत सब यों ही रह जाती है। अत्यन्त स्नेह का प्रदर्शन करनेवाले स्वजन-परिजन एक क्षण भी उस प्राणहीन शरीर को घर मे रखना नही चाहते।

इसीलिये विवेकशील साधक शरीर मे रहते हुए भी शरीर से विलग रहते हैं। परिणाम यह होता है कि वे मृत्यु के भय से रहित हो जाते हैं। डरपोक व्यक्ति ससार मे किसी भी कार्य को सफलता से नही कर सकता। विवेकानन्द ने कहा है —

"भय से ही दु ख आते हैं, भय से ही मृत्यु होती है और भय से ही बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती है।"

भय से उत्पन्न दुर्वृत्तियाँ मनुष्य के पुरुषार्थ को नष्ट कर देती हैं। मानव के सभी गुणो मे साहस अत्यत महत्त्वपूर्ण और प्रथम गुण है --

"Courage is the first of human qualities because it is the quality which guarantees all the other "

— चर्चिल

अर्थात् मानव के सभी गुणो मे साहस पहला गुण है क्योकि यह सभी गुणो की जिम्मेदारी लेता है।

सत इसी निर्भयता को अपना लेने के कारण अपने साधना-पथ पर दृढतापूर्वक चलते है। किसी भी प्रकार का भय उनके मार्ग को अवरुद्ध नही कर पाता।

सज्जनो ! मेरे सम्पूर्ण कथन का साराश यही है कि साधु मानव-जाति के पावन और उच्चतम उद्देश्य की प्रतिमूर्ति होता है। सयम और सदाचार की कसौटी पर कसा जाकर वह अज्ञानरूपी अधकार मे विचरण करने वाले ससार के प्राणियों के लिये प्रकाशस्तभ बन जाता है। सत का जीवन तप

और त्याग का जीवन होना है तथा आत्मा को परमात्मा बनाने वाली साधना का प्रतीक होता है ।

सन्मार्ग को दिखाने वाले ससार मे विरले ही होते है । उनके द्वारा बतलाए गए मार्ग पर चलकर ही मानव अपने शुद्ध आत्म रूप का साक्षात्कार कर सकते है । आज का ससार घोर पाशविकता तथा अनैतिकता की तमसाच्छन्न राह से गुजर रहा है । ऐसी स्थिति मे उसे इस प्रकार के निस्वार्थ, निर्लोभी, निर्मोही, परोपकारी और मार्गदर्शक उपदेष्टाओ की आवश्यकता है, जो ससार के प्राणियो को सत्पथ का अवलोकन करा सके । एक भक्त का व्याकुल हृदय मुक्ति-लाभ की चाह मे ऐसे ही गुरु की खोज कर रहा है । उसका अन्त करण बारबार कहता है —

भोग उदास जोग जिन लीन्हो छाडि परिग्रह भारा हो ।
इन्द्रिय दमन वमन मद कीन्हो, विषय कषाय निवारा हो ।
कब धौं मिलें मोहि श्री गुरुवर करि हैं भव-दधि पारा हो ।

अर्थात् जो भोगो मे विरक्त होकर योग-साधना मे लगे हुए है, जिन्होने बाहर और भीतर के परिग्रह —और ममत्व बुद्धि को दूर कर दिया है, जिन्होने अपनी समस्त इन्द्रियो का दमन कर लिया है और अहकार को त्याग दिया है । साथ ही क्रोध, मान, माया तथा लोभादि कषायो को जीत लिया है, ऐसे मुनिवर मुझे कब मिलेगे जो भव-समुद्र मे मुझे पार कर देगे ।

कितना महत्वपूर्ण है सत-जीवन । प्रत्येक मानव अगर सतो के समागम मे रहे तो वह अपने जीवन का निर्माण कर सकता है । सतो की सगति से नीच व्यक्ति भी महान बन जाता है । अर्जुनमाली जैसे हत्यारे ने भी भगवान महावीर की सगति से और महा भयकर डाकू अगुलिमाल ने गौतम बुद्ध की सगति से अपने समस्त दुर्गुणो को त्याग दिया ।

सत-समागम से बौद्धिक विकास होता है और अज्ञान तथा अहकार का नाश हो जाता है । सिर्फ ज्ञानप्राप्ति से ही मनुष्य की आत्मशक्ति नही बढती । बडे बडे विद्वान भी नास्तिक देखे जाते हैं । किन्तु सतो के समागम मे हृदय की मलिनता, उच्छृखलता तथा अस्थिरता मिटती है और सरलता, उदारता, सहिष्णुता आदि सद्वृत्तिया जागृत होती है । भर्तृहरि ने भी सत-समागम को बडा ही महत्वपूर्ण माना है । कहा है —

जाड्य धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्य,
मानोन्नति दिशति पापमपाकरोति ।

चेत प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्,
सत्सगति कथय किं न करोति पुसाम् ।।

भर्तृहरि (नीतिशतक)

अर्थात्—सत्सगति बुद्धि की जडता नष्ट करती है, वाणी को सत्य से सीचती है, मानवृद्धि करती है, पाप मिटाती है, चित्त को प्रसन्नता देती है और ससार मे यश फैलाती है। सक्षेप मे, सत्सगति मनुष्य के लिये क्या नही करती ?

बधुओ ! आज आपने सत-जीवन की विशेषताओ के विषय मे भली-भाति समझा होगा और सतो के समागम से होनेवाले लाभो के बारे मे भी जान लिया होगा। आशा है आप भी सत-जीवन को कल्याण का मार्ग मानकर उसे अपनाने का प्रयत्न करेगे तथा जीवन को उच्चता की ओर ले जाने मे समर्थ होगे। तथास्तु।

घड़ी की उपयोगिता

बधुओ ! आज मैं घडी की उपयोगिता के विषय मे अपने विचार आपको बताने जा रहा हूँ। इस युग मे घडी बाधना लोगो के लिये साधारण बात हो गई है। इस समय व्याख्यान मे बैठे हुए आप लोगो मे से बहुतो की कलाइयो पर घड़ियाँ बँधी हुई है। आकार मे बडी अथवा छोटी, मूल्य मे अधिक अथवा कम, सभी तरह की घड़ियाँ आपको समय की सूचना देने के लिये प्रति-पल तत्पर है।

किन्तु मैं जानना चाहता हूँ कि आप लोगो मे से कितने महानुभाव, अपनी घडियो की तत्परता को समझ रहे है ? कितने इनके निर्देशानुसार समय का सदुपयोग करते है ? घडी के सकेत को कौन समझ पा रहे हैं ? व्याख्यान का समय आठ से है किन्तु कलाई पर घडी होते हुए भी कितने व्यक्ति समय पर आते हैं ? पूछने पर आप समय की कमी और कार्यों की लम्बी-चौडी लिस्ट उपस्थित कर सकते है। मैं पूछता हू—क्या आप वास्तव मे ही अपनी घडी पर दृष्टि रखते हुए एक क्षण भी व्यर्थ नही खोते ? थोडा भी समय प्रमाद में नही बिताते ?

मैं समझता हूँ कि कोई भी सज्जन इसके उत्तर मे 'हाँ' कहना नही चाहता और कहे भी कैसे ? भारतीयो की समय की पाबन्दी का सभी उपहास करते है। आप लोग यहाँ स्थानक मे समय पर नहीं आते, सिर्फ यही बात नही है। हमारे यहा तो देश के कर्णधार, बडे-बडे नेता भी अपने भाषण का समय सायकाल सात बजे देकर, और शहर भर मे उसकी घोषणा करवा दिये जाने पर भी मुश्किल से नौ बजे तक पहुँच पाते है। भीड और गर्मी से परेशान जनता भाषण आरम्भ होने से पहले ही ऊब जाती है। शादी व्याह के समय बरात की अगवानी आठ बजे शुभ घडी पर तय की जाती है पर बरात धूमधाम और शहनाइयो की मधुर ध्वनि के साथ साढे नौ या दस बजे तक कन्या पक्ष वालो के द्वार पर पहुचती है। परिणामस्वरूप सारे मगल कार्यों और भाँवरो

की शुभ घडियाँ टल जाती हैं और वही 'इडियन टाइम' के अनुसार कार्य सम्पन्न होते रहते है । आप लोग निमत्रण पाकर किसी के यहा जीमने जाते हैं किन्तु सज-सवरकर, स्नो, पाउडर और इत्र से सुवासित होकर तथा बहुत से शकर जी की प्रिया भग-भवानी को उदरस्थ कर जब दिये हुए समय से काफी देर बाद पहुँचते है तो प्रत्यक्ष मे तो आपके सामने सुस्वादु व्यजनो से भरे हुए थाल आते है पर परोक्ष मे रसोई के धुएँ से घुटती हुई बहनो की गालियाँ भी आती है ।

यह है हम भारतीयो के समय की पाबदी ! पाश्चात्य देशो मे समय की इतनी बेकदरी नही है । नेपोलियन बोनापार्ट समय का बडा पाबद था । वह अपने नियमित कार्य मे एक सैकिड का भी विलम्ब होना पसद नही करता था और न अपने किसी कर्मचारी को 'लेट' होने देता था ।

एक बार उसका एक मत्री, जिसे ठीक ग्यारह बजे आना था, दस मिनिट देर से अपने कार्य पर आया । नेपोलियन ने उसी समय उससे देर करने का कारण पूछा । मत्री ने उत्तर दिया—सर ! मेरी घडी दस मिनिट लेट है शायद ।

बोनापार्ट ने उसी क्षण मत्री को हिदायत दी—"Either you change your watch or I shall change you" —अर्थात् या तो तुम अपनी घडी बदलो अन्यथा मैं तुम्हे बदल दूंगा ।

कितना महत्त्व था नेपोलियन के लिये समय का ! इसी प्रकार हमे और आपको भी समय का महत्व और मूल्य समझना चाहिये । याद रखिये, घडी आपको सिर्फ दिन और रात के घटे, मिनट अथवा सैकिड ही नही बताती, वह हमारे जीवन के वर्ष महीने सप्ताह और दिनो का भी हिसाब रखती है । सिर्फ समय का व्यतीत होना ही नही, आयुष्य का व्यतीत होना भी बताती जाती है ।

कालो न यातो वयमेव याता ।

समय नही बीतता, हम ही बीतते हैं । कालद्रव्य अनादि-अनन्त है, उसकी समाप्ति नही हो सकती । समाप्ति हमारे जीवन एव आयुष्य की होती है । भगवान् महावीर ने गौतम को उपदेश दिया था —

दुमपत्तए पडुरए जहा, णिवडइ राइगणाण अच्चए ।
एवं मणुयाण जीविय, समय गोयम ! मा पमायए ॥

उत्तराध्ययन सूत्र १०-१

अर्थात् जिस प्रकार रात्रियो के बीतने पर वृक्ष का पत्ता पीला होकर गिर जाता है, इसी प्रकार मनुष्यो का जीवन भी दिन-रात व्यतीत होते-होते समाप्त हो जाता है। हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

समय के सदुपयोग के लिये भगवान् की कितनी तत्परतापूर्ण प्रेरणा थी ! क्या वह सिर्फ गौतम स्वामी के लिये ही थी ? नही ! मनुष्य मात्र के लिये यही प्रेरणा है। और घडी की प्रतिक्षण टिक-टिक की आवाज़ भी तो मनुष्य को यही चेतावनी देती है।

गया हुआ समय कभी वापिस नही आ सकता, जब कि अनेकानेक सुकृतो के फलस्वरूप पाया हुआ मनुष्य-जन्म तो फिर भी कभी प्राप्त हो सकता है। इससे साबित होता है कि समय की कीमत मनुष्य-जन्म की अपेक्षा भी अधिक है। किसी ने कहा भी है --

"गया हुआ धन, खोया हुआ स्वास्थ्य, भूली हुई विद्या तथा छीना हुआ साम्राज्य हमे वापिस मिल सकता है किन्तु बीता हुआ समय पुन प्राप्त होना सभव नही है।"

एक चित्रकार ने एक कार्टून बनाया। उसमे उसने एक चेहरा बनाया और उसे अग्रेजी बालो से ढक दिया। सिर को पीछे से गजा बनाया और पैरो मे पर लगा दिये।

उसे देखने वाले बडे चकित हुए। चित्रकार से पूछा गया—यह किसका चित्र है ? चित्रकार ने शाति से जवाब दिया —'समय' का। दर्शको की समझ मे फिर भी कुछ नही आया। उन्होने फिर प्रश्न किया —समय का यह चित्र कैसे है ?

तब चित्रकार ने उनकी उत्सुकता शात करते हुए समझाया—समय का चेहरा ढँका होने से, उसका पता नही चल पाता। पीछे से गजा इसलिये है कि उसे पीछे से पकडा नही जा सकता और पर यह बताते हैं कि यह कितनी तेज़ी से उडता है।

मैं समझता हूँ कि वह कार्टून बिलकुल सही था। तेज़ी से जाते हुए समय को वापिस पकड पाना असभव है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को समय के एक-एक क्षण का सही उपयोग करते जाना चाहिये। समय का उचित उपयोग करना ही समय को बचाना है—

'To choose time is to save time'

—बेकन

समय सबसे महान है, करोडो प्रयत्न करने पर भी गए हुए समय को नही बुलाया जा सकता। समय चूक जाने पर पश्चात्ताप करना ही सिर्फ हाथ आता है। पर उससे लाभ क्या ?

का बरषा जब कृषि सुखाने, समय चूकि पुनि का पछताने ?

बधुओ ! जीवन का एक-एक क्षण बहुमूल्य है। अत विवेकवान् व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह उन क्षणो को बर्बाद न करे और अतिम समय मे निरर्थक पश्चात्ताप का भागी न बने।

जिन क्षणो को हम बिलकुल साधारण समझते हैं वे ही क्षण हमारे लिये महान् अवसर बन सकते हैं, अगर उनसे पूर्ण लाभ उठाया जाय। हमे अपनी क्रियाशक्ति पर दृढ विश्वास रखते हुए प्रत्येक क्षण को अपने सर्वोच्च उद्देश्य की पूर्ति मे लगाना चाहिए। लक्ष्यसिद्धि का प्रयत्न प्रत्येक क्षण मे प्रारम्भ किया जा सकता है। उसके लिये कोई शुभ घडी और शुभ मुहूर्त खोजने की आवश्यकता नही है। समय की प्रतीक्षा करना अथवा भाग्य के भरोसे बैठे रहना निष्क्रियता का लक्षण है। निष्क्रियता होने पर कोई भी शुभ मुहूर्त लाभकारी नही होता। कलाई पर बधी हुई कीमती से कीमती घडी भी हमारी सहायक नही बन सकती।

इसलिये अगर आपको अपने समय को और अपनी घडी को सार्थक बनाना है तो जीवन को भी घडी की तरह प्रत्येक क्षण क्रिया-रत बनाना चाहिये। प्रत्येक समय सजग रहना चाहिये। अन्यथा प्रमाद-निद्रा मे ही न, जाने किस क्षण यम के दूत प्राण-धन को चुराकर ले जायेंगे जो कि जन्म के समय से ही ताक लगाए रहते हैं। कवि दीनदयालगिरि ने ससार माया के राही 'मानव' को कितने मार्मिक शब्दो मे चेतावनी दी है :—

राही सोवत इत कितै, चोर लगे चहुं पास।
तो निज धन के लेन को गिनै नींद की श्वास॥
गिने नींद की श्वास पास बसि तेरे डेरे,
लिये जात बनि मीत माल ये सांझ सबेरे।
बरनै दीनदयाल न चीन्हत है तू ताही,
जाग जाग रे जाग इतै कित सोवत राही॥

कहने का अर्थ यही है कि मानव को अपना सपूर्ण समय, अपने उच्च लक्ष्य की सिद्धि के लिये लगाना चाहिये, उसमे अपनी कलाई पर बधी हुई घडी को सहायक मानना चाहिए।

घडी को आग्ल भाषा मे watch कहते है । 'वॉच' का अर्थ ही है, चौकसी करना अथवा सावधानीपूर्वक रक्षा करना । अपने कर्त्तव्य का ध्यान रखते हुए घडी प्रतिपल आपको अपनी गभीर ध्वनि द्वारा सजग करते हुए अपने नाम को सार्थक करती है ।

एक विचारक ने तो घडी के नामकरण वॉच' से ही सतोष नही किया बल्कि 'वॉच' शब्द के एक-एक अक्षर को भी जीवन-निर्माण मे उपयोगी प्रकट किया है । वॉच मे पाँच अक्षर हैं—w, a, t, c, h, कहते है कि अपने प्रथम अक्षर w के द्वारा वॉच शिक्षा देती है—

'watch your word' अर्थात् अपने शब्दो के लिये सावधान रहो ! अपने वचन की रक्षा करो । छूटा हुआ तीर जिस प्रकार वापिस नही आता उसी प्रकार कहा हुआ शब्द भी वापिस नही लिया जा सकता । इसीलिए मनुष्य को शब्दो का उच्चारण करते समय कई बातो का ध्यान रखना चाहिए ।

प्रथम तो यही कि मनुष्य अपने कहे हुए वचनो पर दृढ रहे । किये हुए वायदे को कभी भी न तोडे । नेपोलियन का कहना था—"सच्चे दिल का मज़बूत आदमी कभी अपना वादा पूरा करने से मुह नही मोडेगा । वायदा कसम से भी बढकर है, जिसे पूरा करना ही होगा ।"

इसीलिए महापुरुषो ने अपना सर्वस्व चला जाने पर भी अपनी की हुई प्रतिज्ञा से कभी मुह नही मोडा । हम सब जानते हैं कि —

शिवि दधीचि बलि जो कछु भाखा ।
तन धन तजेउ वचन प्रण राखा ॥

—रामचरितमानस

अपने मित्र, बन्धु-बान्धव अथवा हितैषी किसी को भी दिये हुए वचन का पालन न करना कृतघ्नता और विश्वासघात का सूचक है । विश्वासघात करना महापाप है ।

कहने का तात्पर्य यही है कि मनुष्य को अपने वचनो का पालन सर्वस्व देकर भी करना चाहिए । कहे हुए वचनो की रक्षा न करना अत्यन्त निकृष्टता का द्योतक है । बुद्धिमान पुरुष भूलकर भी अपने वायदे से मुकरता नही ।

बोलते समय दूसरी बात ध्यान मे रखने की यह है कि मनुष्य कभी निरर्थक बकवाद न करे । अधिक बोलने से मस्तिष्क की शक्ति का तो ह्रास होता ही है, अनेको कही हुई बातो का पालन भी नही हो पाता । इसलिये

उतना ही बोला जाना चाहिये जितना आवश्यक हो और जो क्रियान्वित किया जा सके। किसी अबुध ने एक कहावत चालू की है—"गाडी रा पहिया ने मिनख री जवान चालती रहणी चाहिये।" कितनी अज्ञानता से भरी हुई बात है। गाडी चलती रहती है तो क्या होता है ? हर वक्त उसके पहियो के पीछे धूल उडती रहती है। क्या मनुष्य की भी यही दशा होनी चाहिए, कि वह बोलता जाए और उसकी अनर्गल बातो का लोग उपहास करते रहे ? नही ! घडी हमे यह नही सिखाती। वह हमे सिर्फ यह शिक्षा देती है कि सावधानीपूर्वक बोलो और बोले हुए वचनो पर दृढ रहो।

तीसरी बात यह है कि मनुष्य सदा सावधानी रखे कि उसके शब्दो मे कटुता न हो। जिस प्रकार नीबू का खट्टा रस डालते ही दूध फट जाता है उसी प्रकार कटु वचनो के द्वारा हृदय फट जाता है। कटु वचन हृदय को बन्दूक से निकली हुई गोली की तरह विदीर्ण कर देते है। इसीलिये किसी शायर ने कहा है —

लाल उगल मुह से, अगर तुझमे हिम्मते मरदाना है।
आग उगलने को मुह मसले रफन पाया तो क्या ?

जो पुरुष अपने वचन की महत्ता समझ लेते है उनके मुख से मिथ्या, कपटपूर्ण, निरर्थक तथा कठोर वचनो का उच्चारण नही होता। हठवाद, छल-वाद तथा क्रूर परिहास को वह बढावा नही देते। और उनकी वाणी मे अहकार की भावना नही होती। ऐसे पुरुषो का मन अत्यन्त कोमल, तथा करुणा से परिपूर्ण होता है और वही कोमलता उनकी वाणी मे उतर आती है।

अब हमे देखना है कि वॉच के दूसरे अक्षर 'A' के द्वारा हमे क्या शिक्षा प्राप्त होती है ? घडी कहती है—'watch your action' अर्थात् अपने कार्यों की निगरानी करो। सावधानीपूर्वक क्रिया करो। कर्त्तव्य पालन से मुह मत मोडो। भगवान् ने कहा है कि, साधु भी बनो तो विरक्त भावनाओ को लेकर बनो, गार्हस्थिक कर्त्तव्यो से घबराकर नही। अर्थात् जिस स्थिति मे भी रहो उसके अनुसार अपने कर्त्तव्यो का पालन समुचित रूप से करो। डरो मत, और भागो भी मत।

अपने कर्त्तव्यो का बराबर पालन करने से कार्यक्षमता अधिक बढती है। जार्ज इलियट ने कहा है —

"The reward of one duty done is the power to fulfil another".

—एक कर्त्तव्यपूर्ति का पुरस्कार है दूसरे कर्त्तव्य को पूर्ण करने की योग्यता ।

मनुष्य के सामने जो भी कार्य आए उसे अत्यन्त सावधानीपूर्वक तथा निष्कपटता से करना चाहिये, किसी स्वार्थ की साधना के हेतु नही । ससार के महापुरुषो ने अपनी कीर्ति का इतिहास लिखने को जो आज हमे वाध्य किया है वह उनकी कर्तव्यनिष्ठा का ही फल है । जिस समाज के मनुष्यो मे कर्तव्यनिष्ठा पाई जाती है वह समाज ससार मे सम्मान प्राप्त करता है । अच्छे कर्म मनुष्य के जीवन को पवित्र और उच्च बनाते हैं तथा उसके विचारो की व्याख्या करते है । कहते भी हैं –महान् कर्म महान् मस्तिष्क को सूचित करते हैं ।

आत्मा कर्म के कारण ही सुख या दु ख को प्राप्त करती है । 'मानस' मे कहा गया है :—

'जीव कर्मवश दु ख सुख भागी ।'

मनुष्य का अच्छा कार्य, छोटा-सा भी क्यो न हो, वह अवश्य फल देता है । फ्रास के वादशाह हैनरी एक बार अपने अगरक्षको सहित कही जा रहे थे । मार्ग मे एक भिखारी ने उन्हे अपनी टोपी उतारकर तथा मस्तक झुकाकर नमस्कार किया । प्रत्युत्तर मे हैनरी ने भी अपनी टोपी झुकाकर उसे नमस्कार किया ।

यह देखकर एक अफसर ने कहा—श्रीमान् ! आप एक भिखारी को इस प्रकार अभिवादन करें क्या यह मुनासिब है ?

हैनरी ने अत्यन्त मधुर और सरल भाव से उत्तर दिया –क्या फ्रास का वादशाह एक भिखारी के बराबर भी सभ्य नही है ?

अफसर ने हाथ जोडकर वादशाह से अपने वचनो के लिये क्षमा माँगी । उसके तथा सभी अगरक्षको के हृदय मे अपने वादशाह का सम्मान हज़ारगुना वढ गया ।

उदाहरण वहुत छोटा-सा है किन्तु इसमें यही वताया गया है कि तनिक सा अभिवादन कर लेने की क्रिया ने ही वादशाह को कितना सम्मान प्राप्त कराया ।

मनुष्य के विचारो और वचनो की अपेक्षा भी उसकी क्रिया का महत्व अधिक है । कुविचारो से और कुवचनो से मनुष्य अपनी आत्मा को ही मलिन वनाता है और कर्मों का वध करता है । किन्तु उसके साथ ही अगर वह

कुकार्य भी करने लग जाता है तो अन्य व्यक्तियो को भी कष्ट पहुँचता है । इस प्रकार कुकर्म दोनो को ही ले डूबते हैं ।

कुकार्य भले ही छिपकर किये जायँ, हवा को भी उनका पता न लगे किन्तु उनके द्वारा बांधे हुए कर्म एक धरोहर की तरह सुरक्षित रखे जाते है और समय आने पर आत्मा को उनका फल भोगना पडता है । 'वेद व्यास' ने भी इस बात को समझाया है –

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
एव पूर्वकृत कर्म कर्तारमनुगच्छति ।।

—महाभारत

अर्थात् जैसे बछडा हजारो गायो के बीच अपनी माता को पहचान लेता है, उसी प्रकार पहले का किया हुआ कर्म भी कर्ता को पहचानकर उसका अनुसरण करता है यानी फल भोगने को बाध्य करता है ।

बधुओ ! इसीलिये घडी की इस शिक्षा को कि अपने कार्य की बडी सूक्ष्मता से निगरानी करो, हमे पूर्ण रूप से हृदयगम करना चाहिये । हमारे जीवन को हमारे कर्म ही बनाते हैं और कार्य ही हमे अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर करते हैं । अच्छे कार्य आत्मा को ऊँचाई की ओर ले जाते है और बुरे कार्य अध पतन की ओर । हमे यह कभी भी भूलना नही चाहिये कि छोटे और बडे, अच्छे और बुरे सभी कार्यों का फल हमे भोगना ही होगा । क्योकि कर्म-फल अदृश्य रूप से निरन्तर हमारा पीछा करते रहते हैं और समय पाते ही फल भोगने को मजबूर कर देते हैं । कहा भी है —

सुशीघ्रमपि धावन्त विधानमनुधावति ।
शेते सह शयानेन येन येन यथा कृतम् ।।
उपतिष्ठति तिष्ठन्त गच्छन्तमनुगच्छति ।
करोति कुर्वत कर्मच्छायेवानुविधीयते ।।

—महाभारत-शातिपर्व

कर्मों की स्थिति का कितना सुन्दर और सही वर्णन किया गया है । कहा है कि—जिस मनुष्य ने जैसा कर्म किया है, वह उसके पीछे लगा रहता है । यदि कर्मों का कर्ता शीघ्रतापूर्वक दौडता है तो वह भी उतनी तेजी से दौडता है । जब पुरुष सोता है तो कर्मफल भी उसके साथ सो जाता है । जब खडा होता है वह भी पास ही खडा रहता है और जब मनुष्य चलने लगता

है तो उसके पीछे-पीछे वह भी चलने लगता है। इतना ही नही कोई भी कार्य करते समय कर्मसस्कार उसका साथ नही छोडता। सदा छाया के समान पीछे लगा रहता है।

इस कथन के शब्दार्थ मे न जाकर हमे इसके आशय पर ही ध्यान देना है। आशय यही है कि मनुष्य कर्म के फल से किसी भी स्थिति मे छुटकारा नही पा सकता।

• तो बधुओ ! आपने action अर्थात् कार्य का महत्व समझ लिया। इसे समझ कर आपके हृदय अच्छे कार्य करने के लिये कटिबद्ध होने चाहिए। अब मैं 'वॉच' के तीसरे अक्षर 'T' की उपयोगिता बताने का प्रयत्न करता हूँ।

विचारको के अनुसार 'वॉच' कहती है कि "Watch your thoughts"—अर्थात् अपने विचारो की भी चौकसी रखो। मस्तिष्क मे अच्छे विचारो को ही स्थान दो, बुरे विचारो को नजदीक न आने दो। जीवन की दृष्टि मे और तात्त्विक दृष्टि से भी विचारो का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हमारा समग्र जीवन ही हमारे विचारो का फल है। हम शरीर से जो क्रियाएँ करते हैं, वे हमारे आन्तरिक विचारो का परिणाम होती है और हमारी जिह्वा के द्वारा जो वाणी प्रस्फुटित होती है वह भी हमारे विचारो का ही दर्पण होती है।

विचारो की शक्ति आश्चर्यजनक होती है। जिसकी विचारशक्ति दृढ होती है वह शरीर से निर्बल होते हुए भी ऐसे-ऐसे महान् कार्य कर जाते है जो कि इतिहास मे सदा के लिये अकित हो जाते हैं। गाधीजी की विचार-शक्ति अत्यन्त सुदृढ थी अत वे शारीरिक शक्ति से क्षीणप्राय होते हुए भी वर्षो से पराधीन भारत को स्वाधीन बना गए। इसके विपरीत, विचारो के निर्बल होने से हृष्टपुष्ट व्यक्ति भी अनेक बार भय से मूर्छित और मृत्यु को प्राप्त होते देखे गए हैं।

विचारो का प्रभाव शरीर पर भी बहुत तेजी से पडता है। अगर एक स्वस्थ व्यक्ति से कह दिया जाय कि "तुम निरन्तर दुर्बल होते जा रहे हो, लगता है कि तुम्हे कोई रोग लग गया है" तो वह व्यक्ति अगर विचारो से कमजोर होगा तो निश्चय ही धीरे-धीरे अस्वस्थ, दुर्बल और रोगी हो जाएगा। यही कारण है कि हम किसी रोगी को भी ऐसी सूचनाएँ नही देते जिससे उसका मन हताश हो जाय और उस अवस्था मे वह अपने प्राण सकट मे डाल ले।

हमारे धर्म-शास्त्रों मे भी मनके विचारो को बहुत महत्त्व दिया गया है। उसका प्रधान कारण यही है कि जीवन को बनाने और बिगाड़ने मे उनका भाग मुख्य होता है। इस विषय मे 'तदुल मत्स्य' का उदाहरण अत्यत प्रसिद्ध है। वह शरीर से अत्यन्त छोटा होता हैं और विशालकाय मत्स्य की भौंह पर रहता है।

जब विशालकाय मत्स्य अपना मुह फाडता है तो बहुत सी मछलियाँ उसके मुख मे प्रवेश कर जाती है और बहुत सी बाहर भी निकल जाती हैं। तदुल मत्स्य यह देखकर विचार करता रहता है कि अगर इस विशाल किन्तु मूढ मत्स्य के स्थान पर मैं होता तो मुह के भीतर प्रवेश की हुई एक भी मछली को बाहर नही निकलने देता। सभी को गुटक जाता।

ऐसा विचार करने के कारण वह नरकगामी बनता है यद्यपि वह एक भी मछली को खा नही पाता। इसलिये कहते हैं—विचारो मे पवित्रता होनी चाहिये। अन्यथा उनके दूषित होते ही, उनके अनुसार क्रिया न करने पर भी मनुष्य को भयानक फल भोगना पडता है। एक उर्दू के कवि ने कहा है—

गिरते हैं जब ख़याल तो गिरता है आदमी।
जिसने इन्हे सम्भाल लिया वो संभल गया॥

वास्तव मे जो मनुष्य अपने विचारो को सभाल लेता है वह अपने जीवन को बडी सतर्कता मे ऊचा उठा ले जाता है। अन्यथा वह अपने विचारो के गिरते ही अध पतन की ओर अग्रसर होता चला जाता है।

मैंने एक बार बताया था कि मानव-जन्म भवसागर का वह किनारा है जहा पहुँच कर मनुष्य विचलित न हो तो मोक्ष को भी पा सकता है। और अगर फिसल गया तो बस, फिर उसी सागर मे अनन्त काल के लिये डूबता उतराता रहता है।

भरत चक्रवर्ती और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती दोनो ही इस किनारे पर पहुच चुके थे। लेकिन फिर क्या हुआ? भरत चक्रवर्ती ने किनारे पर आकर भी चैन नही लिया। अपने उच्च लक्ष्य को पाने का प्रयत्न क्षण भर के लिये भी नही छोडा, परिणाम यह हुआ कि एक छलाग मे ही वे मुक्ति-महल के द्वार पर पहुँच गए।

किन्तु ब्रह्मदत्त इस किनारे पर पहुचते ही निष्क्रिय बन गए। अपने को सभाल नही पाए और भवसागर के तूफान की लपेट मे आगए। उस तूफान ने उन्हे सीधा सातवें नरक का अतिथि बना दिया।

ऐसी भयानक स्थिति से वचाने के लिये ही भगवान महावीर ने गौतम स्वामी को चेतावनी दी थी कि—"तुम ससार महासमुद्र तो तैर चुके हो अव किनारे पर आकर रुको मत, एक क्षण मात्र का भी प्रमाद और विलब मत करो।" यानी शीघ्रतापूर्वक आगे वढो, यहाँ वैठो मत । किनारे पर हर क्षण ज्वार आने का खतरा होता है ।

सज्जनो । मनुष्य के लिये आवश्यक है कि वह प्रत्येक क्षण सजग रहे । किसी भी समय दुर्विचारो का तूफान मस्तिष्क मे न आने दे । अन्यथा कही मन उसकी लपेट मे आ गया तो फिर उसका कावू मे आना कठिन हो जाएगा । कहा भी है —

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ ।

—उत्तराध्ययन, २३-५८

—मन अत्यत साहसी और भयकर है । दुष्ट घोडे की तरह यह इधर-उधर दौडता है ।

इसीलिये हमे घडी की यह सीख मानकर अपने विचारो का सम्यक् रूप से अध्ययन करना चाहिये और ऐसे विचारो को स्थान देना चाहिये जिसके द्वारा अपनी आत्मा का कल्याण हो और विश्व की भलाई की भी भावना परिपुष्ट हो । हमे सोचना चाहिये—सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया ।" सभी प्राणी दुख-कष्ट से रहित नि शल्य और निरामय वनें, सभी सुखी हो ।

घडी का अगला अक्षर है—'C' । 'सी' के द्वारा घडी हमे यह सदेश देती है—Watch you Charactor अर्थात् अपने आचरण का निरीक्षण करो । कही ऐसा न हो कि ऊपर से सभ्य सुसस्कृत और सुन्दर दिखाई देने पर भी अन्दर से हम असभ्य और कुरूप हो ।

आतरिक कुरूपता का अर्थ है मन का दूपित होना । और मन के दूपित होने से तात्पर्य है, उसमे क्रोध, कपाय, राग, द्वेष और कपट आदि का होना । मन मे वुरे विचार होने पर उनका प्रभाव वचन और क्रिया पर भी पडता है । मन के अनुसार ही वचनो का उच्चारण किया जाता है और शरीर क्रियाएँ करता है । ये तीनो चीजे मिलकर ही आचरण कहलाती हैं ।

सदाचरण मे समस्त अच्छाइयाँ निहित होती है । एक कहावत है—'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्ना.' अर्थात् हाथी के पैर मे सभी पैरो का समावेश हो जाता है । उसी प्रकार सदाचार मे सभी सद्गुणो का समावेश हो जाता हैं । सक्षेप मे, मनुष्य जीवन को सफल वनाने के लिये जो समस्त अच्छाइया

होती है उनका सामूहिक नाम ही सदाचार है ।

सदाचरण जीवन को पवित्र बनाने के लिये आवश्यक है । जिस प्रकार औषधियाँ शरीर की व्याधियो का नाश करती है उसी प्रकार सदाचार आत्मिक विकारो को नष्ट करता है । इसी कारण शास्त्रो मे आचरण की महिमा मुक्त कठ से गाई गई है । ससार के सभी धर्म सदाचार का समर्थन करते है और उसे जीवन मे बहुमूल्य मानते हैं । वैसे ससार के स्वरूप को समझने के लिये ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता है । किन्तु ज्ञान का फल आचार है । ज्ञान प्राप्त करके भी अगर मनुष्य का आचरण नही सुधरा तो ज्ञान निरर्थक हो जाता है—'ज्ञान भार क्रिया विना ।' अर्थात् सम्यक् क्रिया के अभाव मे ज्ञान भार रूप हो जाता है । जिस ज्ञान से चारित्र की प्राप्ति न हो वह ज्ञान निष्फल है । एक सदाचारी मूर्ख आचारहीन बुद्धिमान् की अपेक्षा अधिक महान् माना जाता है । सदाचारी व्यक्ति की शत्रु भी प्रशसा करते हैं । मनुष्य का आचरण एक दर्पण के सदृश होता है जिसमे मनुष्य का प्रतिबिंब दिखाई दे जाता है । कहा भी गया है —

> कुलीनमकुलीन वा वीर पुरुषमानिनम् ।
> चारित्रमेव व्याख्याति शुचि वा यदि वाशुचिम् ॥
>
> — वाल्मीकि

मनुष्य का आचरण ही यह बतलाता है कि वह कुलीन है या अकुलीन, वीर है या कायर और पवित्र है या अपवित्र ।

इसलिये मनुष्य को अगर ससार मे सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करना है तो अपने आचरण को अत्यत सावधानी पूर्वक पवित्र तथा सुन्दर बनाना चाहिये । सदाचार सफल जीवन का सर्वोत्तम मार्ग है जिसके द्वारा मनुष्य ससार-यात्रा निर्विघ्न समाप्त करता हुआ मुक्ति पथ पर भी अग्रसर होता चला जाता है ।

अब 'वॉच' का अन्तिम अक्षर 'H' हमारे सामने आता है । वह हमारे हृदय को पवित्रतम बनाने की प्रेरणा देता है । कहता है –"Watch your heart"—अपने हृदय की सुरक्षा करो । हृदय शरीर मे बाँयी ओर स्थित मास का एक पिण्ड है जिसके द्वारा रक्त सारे शरीर मे पहुँचाया जाता है । यहा उसकी सुरक्षा का अर्थ है हृदय की भावनाओ को पवित्र रखना ।

हृदय की भावनाएँ स्वस्थ एव पवित्र तब रहती है, जब उन्हे विषय-

विकारो के रोगो से बचाया जाय। दुर्विचारो के कीटाणुओ को हृदय मे प्रवेश न करने दिया जाय। हृदय को सकीर्ण न बनाकर उसे विशाल बनाया जाय। सकीर्णता का अर्थ है, हृदय मे अपने तथा अपने परिवार के स्वार्थ तथा सुख की ही भावना रखना। ऐसी सकीर्ण दृष्टि मनुष्य को स्वार्थी बना देती है। अपने अलावा ससार के अन्य प्राणियो के सुख-दुख से कोई सबध नही रहने देती। इसके विपरीत जिसका हृदय विशाल होता है वह विश्व के समस्त प्राणियो को अपने जैसा ही समझता है, उनके सुख-दुःख को अपना ही सुख-दुख मानता है। उसके हृदय मे सबकी भलाई की कामना रहती है। वह भगवान से यही प्रार्थना करता है —

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदम्,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
मध्यस्थभाव विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव।

अर्थात् हे प्रभो! मेरा हृदय प्राणी मात्र पर मैत्री भावना रखे, गुणी जनो के प्रति प्रमोदभाव को धारण करे, दुःखी जीवो के देखकर दयाभाव लावे और अपने विरोधियो पर भी मध्यस्थ भाव रखे।

भाइयो! ऐसे हृदय वाला व्यक्ति किसी भी जरूरतमन्द के लिये अपना सब कुछ समर्पण कर देता है। अपने धन-वैभव और शरीर, किसी पर भी उसका ममत्व नही होता। इन सभी को वह प्राणिमात्र की धरोहर समझता है और समय आने पर उन्हे लौटा देता है।

कौशल देश के राजा बडे दानशील थे। उनकी दानशीलता की प्रसिद्धि चारो तरफ हो गई थी। दुखी व्यक्ति सदैव उन्हे अपना सकटहारी समझकर आवश्यकता होते ही उनके पास दौडे चले आते थे और कभी कोई निराश होकर नही लौटता था।

कौशलराज की यह कीर्ति काशीराज को सहन नही हुई। उन्होने कौशल पर चढाई कर दी और उन्हे हरा दिया। कौशलराज हार जाने पर जगल मे चले गए। काशीराज ने तब भी उनका पीछा नही छोडा, उन्होने घोषणा करवा दी कि जो कोई कौशलराज को जीवित अथवा मृतक पकड कर ले आएगा उसे हजार अशर्फियाँ इनाम मे दी जाएँगी।

कौशलराज फटे हाल जगलो मे मारे-मारे फिर रहे थे। एक दिन

एक दुर्दशाग्रस्त व्यक्ति ने उनसे कौशल देश का रास्ता पूछा। वह उन्हे पहचानता नही था।

राजा ने कहा - उस अभागे देश मे किसलिये जा रहे हो भाई!

व्यक्ति ने कहा —मैं बड़े ही संकट मे हूँ। कौशल देश के राजा, सुना है कि बडे ही कृपालु है अत उनसे याचना करूँगा।

कौशलनरेश अत्यन्त दुखी हुए। वे क्या देते उसे? अचानक उनके हृदय मे एक विचार आया और वे उस संकटग्रस्त व्यक्ति को लेकर सीधे काशीनरेश के पास पहुच गए। वहाँ जाकर बोले—

राजन! मैं कौशलराज हूँ। मुझे पकडकर लाने वाले के लिये आपने जो इनाम घोषित किया है वह इस व्यक्ति को दिलवाइये।

दरबार मे सन्नाटा छा गया। काशीराज भी स्तम्भित रह गए। क्षण भर मे ही उनका हृदय-परिवर्तन हो गया। वे सिंहासन से उठ गए और उन्होने जबर्दस्ती कौशलराज को अपने सिंहासन पर बैठाकर उनके मस्तक पर अपना मुकुट रख दिया। गद्गद स्वर से कहा—

कौशलराज! आप धन्य हैं कि अपने प्राण देकर भी औरो का भला करना चाहते हैं। मैंने आज आपको अपना समस्त राज्य दिया और हृदय भी। आप इस व्यक्ति को तथा जिसे जो कुछ देना चाहे राज्य-कोष मे से दीजिये।' यह सुनकर सारी सभा हर्ष से जय जयकार कर उठी।

इस लघुकथा से साबित होता है कि मानव-हृदय एक रहस्यमय वस्तु है। पाषाण हृदय मे भी करुणा का निर्झर अदृश्य रूप मे बहता रहता है। जो अवसर आते ही अपने पावन स्पर्श से प्राणियो की व्यथा की दाह को शान्त करता है। वेदव्यास ने हृदय को अत्यन्त महत्वपूर्ण बताया है। कहा है —

तीर्थाना हृदय तीर्थं शुचीना हृदय शुचि ।

—तीर्थो मे श्रेष्ठ तीर्थ विशुद्ध हृदय है और पवित्र वस्तुओ मे अत्यन्त पवित्र भी विशुद्ध हृदय ही है।

जिसका हृदय निर्दोष तथा निष्कपट होता है वह किसी भी परिस्थिति मे विचलित नही होता, किसी के प्रति उसके हृदय मे शिकायत अथवा क्रोध के भाव पैदा नही होते। किसी से बदला लेने की भावना नही होती। हर एक स्थिति को वह वरदान ही मानता है और उसमे पूर्ण रूप से प्रसन्न व संतुष्ट रहता है। कहते हैं—

मुहम्मद सैयद एक पहुँचे हुए और निस्पृही सत थे। वे अकसर एक गीत गाया करते थे, जिसका भाव है—

"मैं सच्चे सत भक्त फुरकन का शिष्य हूँ। मैं हिन्दू भी हूँ, यहूदी भी हूँ, और मुसलमान भी हूँ। मन्दिर और मसजिद मे लोग एक ही परमात्मा की उपासना करते है। जो कावे मे सगे-असवद है वही दैर मे वुत है।"

उनके ऐसे विचारो के कारण औरगजेब उनसे चिढता था। एक वार उसने इन्हे पकडवा मगाया। धर्मान्ध मुल्लाओ ने उन्हे धर्म-द्रोही घोषित करके सूली की सजा सुना दी।

पर मुहम्मद सैयद का हृदय और ही तरह का था। वे सूली की सजा सुनकर खुशी से उछल पडे। सूली पर चढते हुए वोले—आह! आज का दिन मेरे लिये वडा सौभाग्य का है। जो शरीर प्रियतम से मिलने मे वाधक था वह इस सूली की वदौलत छूट जाएगा। मेरे दोस्त! (भगवान) आज तू सूली के रूप मे आया। तू किसी भी रूप मे क्यो न आवे, मै तुझे पहचानता हूँ।

मेरे कथन का सार यही है कि मनुष्य को अपना हृदय विस्तृत वनाना चाहिये। ससार के सभी जन अपने है। और सभी धर्म एक ही लक्ष्य को प्रदान करने वाले है, ऐसा मानना चाहिये। क्योकि असली धर्म अहिंसा, सत्य, सयम और दया की भावना आदि मे निहित है। धर्म के लिये रक्तपात करना और खून की नदिया वहाना धर्म का नाश करना है। ऐसे नृशसतापूर्ण व्यवहार हृदयहीनता तथा हृदय की सकीर्णता के द्योतक होते है। उनसे धर्म की रक्षा नही होती, और आत्मा मुक्त नही वनती। उलटे वह कषाय के भार से वोझिल होकर अध पतन की ओर उन्मुख हो जाती है।

तो घडी की यह सीख कि 'अपने हृदय की रक्षा करो,' आप समझ गए होगे। हृदय शरीर का अत्यन्त महत्वपूर्ण अग है क्योकि इसके द्वारा ही समस्त अग सचालित होते है। इसलिये इसके प्रति सावधानी रखना और इसको निर्दोष वनाना अत्यन्त आवश्यक है।

मनुष्य ससार के समस्त प्राणियो से श्रेष्ठ है, क्योकि इसे हृदय के साथ साथ विशिष्ट वुद्धि भी मिली हुई है। इन दोनो का उपयोग शुभ कार्यो मे करते हुए मनुष्य को अपने मनुष्य जीवन का लाभ उठाना चाहिये। मनुष्य-जन्म अनेक जन्म-जन्मातरो के वाद मिला हुआ अपूर्व अवसर है। इस अवसर

को पाकर इसे व्यर्थ खो देना महा मूढता है। बुद्धिमान् पुरुष कोई भी अनुकूल अवसर पाकर उसे व्यर्थ नही खोता। राजस्थानी भाषा मे कहा जाता है —

समझण हार सुजान नर औसर चूके नाहि।
औसर हो आसाण, रहे घणा दिन राजिया॥

अर्थात् समझदार व्यक्ति समय का लाभ तुरत उठाता है। अगर उपयुक्त समय को खो दिया जाय तो फिर लाख प्रयत्न करने पर भी उसे सिद्धि प्राप्त नही होती।

एक राजा को अपनी कन्या का सबध करना था। एक बार एक राजघराने से राजकुमारी की मगनी के लिये कुछ राजकीय व्यक्ति आए। इत्तफाक से उसी समय एक इत्रफरोश इत्र बेचने के लिये राजा के दरबार मे पहुँचा।

राजा ने इत्रो की परीक्षा की और एक सुगन्धित इत्र की शीशी हाथ मे लेकर उसका दाम पूछा। इत्र बेचनेवाले ने उसका मूल्य एक हजार रुपया बताया। सयोगवश उसी समय राजा के हाथ से शीशी गिर पडी और फूट गई। राजा कुछ सोच नही पाया और उसने झुककर उस इत्र को शीघ्रता से अपने कपडो पर और मस्तक पर लगा लिया।

राजकुमारी का सबध करने आए हुए व्यक्ति राजा का यह कार्य देख रहे थे। उन्होने यह विचार किया कि राजा अत्यत कृपण है, सबध करने से इन्कार कर दिया। उन्हे दूसरे दिन वापिस लौटना था।

राजा बडी चिन्ता मे पडा किन्तु उसने एक रास्ता निकाला। दूसरे दिन प्रातःकाल शहर के समस्त इत्र बेचने वालो को बुलाकर इत्र खरीदा और उसे एक हौज मे डलवा दिया। जब दूसरे राज्य के वे अधिकारी राजा से विदा लेने के लिये आए तो राजा उनके समक्ष अपनी कृपणता को छिपाने के लिये उस हौज मे स्नान करने लगे।

पर बाहर से आए हुए मुसद्दी बडे होशियार थे। एक ने कह दिया— राजन! "बूंद की गई हौज से नही आती।" आपके ऐसे कार्यों से साबित होता है कि आप समय पर तो व्यय करेंगे नही और बिना अवसर के व्यर्थ खर्च करेंगे।

यह कथा बताती है कि किस प्रकार ज्ञानी पुरुष को अवसर मिलते ही लाभ उठा लेना चाहिये। मनुष्यजन्म आत्मा के लिये एक स्वर्णावसर है।

अगर वह व्यर्थ चला गया तो फिर जन्म, जन्म मे भी भवभ्रमण से मुक्त होने की आशा नही रहेगी ।

आप भी राजा हैं क्योकि विश्व के समस्त प्राणियो से श्रेष्ठ है । बहु-मूल्य इत्र की तरह आपको मानव शरीर मिला हुआ है । अगर इसे यो ही नष्ट कर दिया तो फिर जिस प्रकार सैकडो शीशियो के इत्र से स्नान करने पर भी राजा को सिद्धि नही मिली थी उसी तरह सैकडो ही नही लाखो, करोडो जन्मो को पाकर भी आप मुक्तिरूप सिद्धि को प्राप्त नही कर सकेगे ।

बधुओ ! समय हो चुका है । आज मैंने आपकी घडियो को लेकर बहुत कुछ कहा है । वैसे तो प्रकृति की प्रत्येक वस्तु कुछ न कुछ शिक्षा देती ही है । पानी के बुलबुले और ओस की बूंदें जीवन की क्षणभगुरता बताते है, धर्म-शालाएँ हमे आत्मा का शरीर मे अनिश्चित काल तक ठहरना बताती हैं । गाडी के पहिये जन्म और मरण का चक्र बताते हैं । वृक्ष के ऊपर पत्ते अकु-रित होने से लेकर पीले पडकर झड जाने तक, जन्म, बाल्यकाल, युवावस्था तथा वृद्धावस्था और अंत मे मरण तक का चित्र खीच देते हैं । कोमल मधुर बोलना और कुत्ता वफादारी की सीख देता है । चीटी मिलजुल कर कार्य करने की तथा हाथी हर परिस्थिति मे मस्त रहने की शिक्षा देता है । इसी प्रकार आपकी घडिया आपको हर समय सजग रहकर समय का सदुपयोग करने की शिक्षा देती है । और यह शिक्षा इतनी आवश्यक है कि इसके बिना आपका जीवन अनियमित और प्रमाद-युक्त होकर व्यर्थ जाने की स्थिति मे हो जाता है ।

इसलिये आवश्यक है कि आप घडियाँ बांधे तो उनका सदुपयोग भी करें । कलाई की शोभा बढाने के लिये घडी बांधना कोई महत्त्व नही रखता । घडी बांधकर भी समय पर कार्य न किया जाए तो उससे क्या लाभ है ? कुछ भी नही ।

घडी की टिक-टिक हमारे हृदय की धडकन की तरह हमे प्रति-पल आयु के कम होते जाने का सदेश देती है । उसे समझते हुए हमे अपने जीवन के अमूल्य और जाते हुए क्षणो का सदुपयोग करना चाहिये तथा जीवन को वास्तविक रूप मे सफल बनाने का प्रयत्न करना चाहिये ।

●

जीवन की क्षणभगुरता

●

मानव जीवन क्षण-भगुर है। यद्यपि आत्मा अजर-अमर अविनाशी है किन्तु यह जीवन अमर नही है। किसी भी दिन और किसी भी क्षण देखते-देखते ही आत्मा इस शरीर को छोडकर चल देती है। शरीर की नैसर्गिक बनावट ही इस प्रकार की होती है कि इसके बदलने मे पलभर भी नही लगता। सास चलते-चलते टिकी और प्राण-पखेरू लुप्त हुए।

एक व्यक्ति बैठा बाते कर रहा है। कुटुम्ब-परिवार के साथ हास्य-विनोद मे निमग्न है। पर अचानक ही हृदय का स्पन्दन रुकता है और उसका जीवन समाप्त हो जाता है। कोई बैठा बैठा लुढक जाता है, और ठोकर लगते ही इस लोक से प्रयाण कर जाता है। मनुष्य नाना प्रकार की योजनाए बनाता है। कल यह करना और परसो वह, एक वर्ष पश्चात् ऐसा करना और दस वर्ष बाद वैसा। किन्तु उसी क्षण काल के सामने आते ही सारे मनोरथ और सकल्प सदा के लिए समाप्त हो जाते है। कहा है —

आगाह अपनी मौत से, कोई बशर नहीं।
सामान सौ बरस के, पल की खबर नहीं॥

मृत्यु एक पल की भी मोहलत नही देती, सारा धन, वैभव, वृहत् कुटुब, परिवार, बडे-बडे महल-मकान सभी कुछ जहा का तहा रह जाता है, और जीव अकेला अपने कर्मों का गट्ठर लादे हुए चल देता है। कर्म ही सिर्फ आत्मा के साथ चलते हैं।

किन्तु इस परम सत्य को जानते हुए भी मनुष्य अनजान बने रहते है। जीवन के अन्तिम श्वास तक धन कमाने का प्रयत्न नही छोडते। गरीब की बात जाने दीजिए, अमीर व्यक्ति भी धन की लालसा मे पागल रहते हैं। उनकी तृष्णा निरन्तर बढती ही जाती है। वे भूल जाते है कि मैं कौन हूँ और मेरा यथार्थ स्वभाव क्या है? अर्थात् वह नही सोच पाते कि आत्मा तो सच्चिदानन्दमय चेतन है और धन सपदा जड। चेतन के साथ जड पदार्थों का

क्या सरोकार ? धन आत्मा के लिए विडम्बना ही साबित होता है। नाना प्रकार की चिन्ताओ और कष्टो का ही कारण बनता है। वह आत्मा का सहायक या शरणदाता नही बन सकता, धन के द्वारा भले ही बडी २ प्राचीरो का निर्माण कर लिया जाय, सुरक्षा के लिये मनुष्यो की फौज रख ली जाय, कदम-कदम पर प्रहरी बैठा दिये जायें किन्तु मृत्यु का समय आते ही कोई भी उपाय सार्थक नही होता। प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने अत्यन्त सुन्दर शब्दो मे यही समझाया है —

भरतखड के अधिपति चक्री कितने भू पर आए ?
वासुदेव बलदेव काल के भीषण उदर समाए।
नहीं कारगर धन होता है बन्धु ! मृत्यु की वेला,
राजपाट सब छोड चला जाता है जीव अकेला॥

वास्तव मे ही ससार मे अनेको चक्रवर्ती राजा महाराजा हुए है। उनके पास धन की क्या कमी रही ? किन्तु उसमे उन्हे क्या लाभ हुआ ? धन ने क्या कभी किसीका साथ दिया है ? क्या अपना समस्त वैभव देकर भी कोई अपनी मृत्यु को कुछ समय के लिये भी रोक सका है ? नही, मृत्यु को सिर्फ वही जीत सके है अर्थात् वे ही जन्म और मरण के चक्र से मुक्त हुए हैं जिन्होने धन-सपदा को ठोकर मारकर छोड दिया। और आत्मा को निर्मल और विशुद्ध बनाया।

ससार मे मृत्यु के इतने कारण विद्यमान है कि प्राणी का जीवित रहना ही आश्चर्य की बात है। मर जाने मे तो तनिक भी आश्चर्य नही है। मृत्यु तो जन्म के साथ ही साथ मस्तक पर मडराना शुरू कर देती है। कोई नही कह सकता कि कब वह बाज की तरह झपट्टा मारकर चल देगी। जिन भोगोप-भोगो के लिये मनुष्य जीवन भर ललचाता रहता है उनकी समस्त सामग्रिया प्राण पखेरू के उड जाने पर यही पडी रह जाती हैं। अज्ञानी पुरुष अपने शरीर का पालन-पोषण करने मे, इसे सजाने और सवारने मे ही जीवन का अमूल्य समय नष्ट कर देते हैं और शरीर को सुन्दर, और चिकना-चुपडा बनाए रखने मे ही अपने जीवन की सार्थकता मानते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि तेल-फुलेल लगाया हुआ यह शरीर मरने के बाद किसी भी काम का नही रह जाता। पशुओ के शरीर का चमडा तो फिर भी अनेक कामो मे आता है पर मनुष्य का चाम उतने मूल्य का भी नही रहता। कहा भी है .—

तेल फुलेल अनेक लगावत, खींच के बद संवारत वाहि,
भोगन भोग अनेक करे तरुणी वर देख अति हरषाहि।

ले दर्पन मुख देखत हैं और अति आनन्द सो निरखत छांहि,
तुलसीदास भजो हरि नामा, यह चाम चमार के काम को नांहि ।

तुलसीदासजी भी कहते हैं इस शरीर की सार्थकता इसका सौन्दर्य बढ़ाने और भोग-विलास करने मे नही वरन् भगवान् का भजन करने मे है । इसके अलावा और किसी भी स्थिति में मनुष्य को शाति और सुख प्राप्त नही हो सकता ।

एक गाव मे एक ब्रह्मचारी रहता था । वह हनुमानजी के मदिर मे रहते हुए पूजा उपासना और भजन करता हुआ आनन्द से समय बिताता था ।

एक दिन उस मदिर मे एक बडा धनी व्यक्ति ठाट-बाट और नौकर-चाकरो सहित आया । उसे देखकर ब्रह्मचारी ने सोचा यह कितना सुखी है ! और प्रत्यक्ष मे कहा—आप तो परम सुखी है । फिर हनुमान जी से किस वस्तु के लिए प्रार्थना करने आए हैं ?

रईस बोला—मैं बजरगबली से पुत्रप्राप्ति की याचना करने आया हू । मैं सुखी कहा हू ? अमुक गाव मे जो सेठ रहते हैं उनके चार पुत्र हैं । सच्चे सुखी तो वह हैं ।

ब्रह्मचारी के मन मे कौतूहल उत्पन्न हुआ । सोचा—जरा जाकर देखूं सुख कहा है ? वह उस श्रीमत के यहा गया और उनसे पूछा सुना है आप पूर्ण सुखी हैं ? श्रीमत ने कहा—भाई ! मुझे काहे का सुख ? मेरे लडके मेरी आज्ञा नही मानते । पढे लिखे भी नही है । दुनिया मे तो विद्या का मान है । पास ही के गाव मे जो विद्वान है वही पूर्ण सुखी हैं ।

ब्रह्मचारी ने विद्वान के पास जाकर भी अपना प्रश्न दुहराया । विद्वान ने बडी सजीदगी मे कहा—मुझे सुख कहा है ? शरीर की तमाम हड्डिया सुखाकर मैंने विद्या पढी किन्तु आज मुझे पेट भरने लायक अन्न भी नही मिलता । अमुक गाँव मे एक नेता हैं, वह अवश्य सुखी हैं । उनके पास धन, विद्या, कीर्ति आदि सभी कुछ है ।

ब्रह्मचारी उन नेता के पास भी पहुचा । किन्तु नेता ने कहा—मेरे पास कीर्ति, सपत्ति और सतानादि सब कुछ है फिर भी कुछ लोग मेरी बडी निंदा करते रहते हैं, इससे मैं बडा दुखी हू । मुझमे अनेक गुना सुखी तो पास के गाव मे रहने वाला हनुमानजी के मदिर का एक ब्रह्मचारी है जो भिक्षा मागकर खाता है और भगवान् के भजन मे मस्त रहता है ।

ब्रह्मचारी अपना ही वर्णन सुनकर बहुत शर्मिंदा हुआ और समझ गया कि सच्चा सुख तो भजन-पूजन और साधना-उपासना मे ही है। यशकीर्ति, धन-सम्पत्ति और ठाट-बाट मे सुख नही है और उनके लिये प्रयत्न करना जीवन के अमूल्य क्षणो को व्यर्थ खोना है।

भगवान् महावीर ने भी कहा है —

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए, थोव चिट्ठइ लम्बमाणए।
एव मणुयाण जीविय, समय गोयम ! मा पमायए।।

उत्तराध्ययन १०-२

अर्थात् घास की नोक पर लटकने वाली ओस की बूंद बहुत थोडे समय ही ठहरती है, अधिक देर तक नही ठहर सकती। उसी प्रकार यह मानव-जीवन अल्प काल तक ही ठहरता है, अत गौतम ! एक समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

भगवान् के वचनो मे कितना सत्य है। ओस के मोती का क्या स्थायित्व है ? कुछ भी नही ! वायु का हल्का सा झोका आते ही वह बिखर जाता है। इस जीवन की भी यही स्थिति है। प्राण निकल जाने पर शरीर उसी क्षण चेतनारहित हो जाता है। पुन उसके जीवित होने की सभावना नही रहती। जिस शरीर का जीवन भर अत्यन्त सावधानी से पोषण-रक्षण किया जाता है, हजारो रुपयो की पौष्टिक वस्तुओ से जिसे कातिमान बनाया जाता है, शीत, उष्ण और वर्षा की तकलीफो से बचाया जाता है, वही शरीर आत्मा के प्रयाण करते ही आग मे फूंक दिया जाता है। अनादि काल से यह होता चला आ रहा है।

एक बड के पेड पर सैकडो पत्ते थे। उन पत्तो मे से एक पत्ता पडकर डाल से अलग हो गया और नीचे की ओर गिर चला। पेड से अलग होते हुए उसे बडा दुख हुआ क्योकि पेड पर उसका जन्म हुआ, उसी पर वह बडा हुआ और अब तक उस पेड पर ही वह झूमता रहा, मुस्कराता रहा और इठलाता हुआ दुनिया को देखता रहा। किन्तु आज उसे छोडकर जाते हुए उसका हृदय विदीर्ण होने लगा। उसने अपने आश्रयदाता वृक्ष को अतिम नमस्कार किया। कहते हैं कि —

पत्र पडंता बोलियो, सुन तरुवर वनराय।
अबके बिछुड़े कब मिलें दूर पड़ेंगे जाय।।

पत्ते के हृदय की वेदना को वृक्ष समझ रहा था। किन्तु पत्ते को रोक

लेने की उसमे शक्ति नही थी। उसे वापिस लौटा लेना उसके वश का नही था। वह तो एक सराय की भाति था जहा मुसाफिर आते हैं और जाते हैं। सराय आश्रम देती है पर किसी यात्री को आने जाने मे रोक नही पाती।

जाते हुए पत्ते की भावना का अनुभव कर विशाल हृदय 'बड' अत्यन्त मर्माहित हुआ किन्तु उसने अपनी असमर्थता प्रकट की और उसे सात्वना देने का प्रयत्न किया—

तब तरुवर उत्तर दियो, सुनो ! पत्र मम बात।
इण घर की यह रीत है, इक आवत इक जात॥

कितनी सरल भाषा मे सवेदनशील बड ने पत्र को विदाई दी ? प्रतिदिन उसके सामने अनेक आते और जाते थे। वह आने वाले का स्वागत करता था और जाने वाले को हृदय पर पत्थर रखकर विदा करता था। किन्तु उस वृक्ष मे हजारो पत्ते और थे। नई-नई कोपलें भी जन्म ले चुकी थी। अपनी किशोरावस्था के घमण्ड मे उन्हें जीवन की अनित्यता का ध्यान नहीं था। यह भान नहीं था कि एक दिन हमारी भी गति यही होगी। आयु की परिपक्वता से पीले पड गए पत्ते को पेड से गिरते देखकर वे कोपलें उसका उपहास करने लगी।

ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि आज के नवयुवक बुजुर्गों का उपहास करते हैं। उनके शिथिल शरीर और इन्द्रियो की कार्यक्षमता की कमी को देखकर व्यग करते है। वृद्धो के महान्-ज्ञान का मजाक करते हैं और उससे लाभ उठाने व शिक्षा प्राप्त करने के बजाय उनका तिरस्कार करते हैं। ऐसे घमडी व अज्ञानी युवको के लिये ही किसी शायर ने कहा है—

छोडना होगा तुम्हें आलम जवानी एक रोज।
छोडना होगा तुम्हें यह जिस्मे फानी एक रोज॥

शरीर की कोई भी स्थिति सदैव एक सी नही रहती। सदा बचपन नही रहता जो मानवजीवन की सबसे सुन्दर और सभी प्रकार की चिन्ताओ से रहित अवस्था है तो फिर अनेक कठिनाइयो से भरी हुई युवावस्था ही कैसे शाश्वत रहेगी। और ऐसी अवस्था का गर्व किसलिए ?

हाँ, मैं पत्ते की बात कह रहा था कि—

पत्र पडंता देख के (देखकर) हसी जु कूंपलियां

पत्ता भी मूर्ख नही था। जाते-जाते भी उसने एक ही वाक्य मे गर्वीली

कोपलो को ससार का चरम सत्य बना दिया । वह तड़पकर बोल गया –

मो वीती तो वीतसी, धीमी रवोए वापड़या !

अर्थात्—किशोरियो ! जरा सब्र रखो, समय बीतते देर नही लगेगी और आज जो मुझ पर बीती है वही कल तुमपर वीतने वाली है ।

कितनी सुन्दर और सत्य उक्ति है । ससार की यही तो वास्तविक स्थिति है । फिर भी मानव इस सत्य को समझकर अपने इस क्षणिक जीवन को सार्थक नही बनाता । वह तो एक राजस्थानी कहावत के अनुसार सोचता है—मरने वाले दूसरे थे, वे मर गए । हम तो मौज करेंगे ।

मरण वाला दूजा ने म्हारी होसी पूजा ।

एक बार पाचो पाडव तथा उनकी माता कुन्ती वन मे विचरण कर रहे थे । कुन्ती को तृषा का अनुभव हुआ और उसने पुत्रो से जल पीने की इच्छा प्रकट की ।

पाडवो मे सर्वाधिक कार्यकुशल भीमसेन था । वह तुरन्त झारी लेकर पानी की तलाश मे चल दिया । शीघ्र ही एक जलाशय उसे दृष्टिगोचर हुआ और भीम ने अपनी झारी उसमे मे भरनी चाही । किन्तु उसी समय एक आवाज उस जलाशय से आई । भीम ने चकित होकर सुना, आवाज कह रही थी—

"पानी ले जाने से पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दे जाओ । प्रश्न यह है "किम् आश्चर्यम् ?" (यानी जगत् मे आश्चर्य क्या है ?)"

भीम पहलवानो का भी पहलवान था । मुद्गर चलाना, कुश्ती लडना, बात की बात मे दैत्य जैसे शक्तिशालियो को भी उठाकर पटक देना उसके बाँये हाथ का खेल था । पर इस "आश्चर्य" नामक जन्तु से उसका मुकाबला कभी हुआ नही था । वह 'किम् आश्चर्यम्" का क्या जवाब देता ? व्यर्थ की बात समझकर उसने सोचा—मैं तो पानी लेकर शीघ्र चलूँ ताकि माँ की प्यास मिट जाए ।

पर आश्चर्य की बात हुई कि जल मे झारी डुबोते ही वह पछाड खाकर वही गिर गया ।

काफी समय वीतने पर भी भीम के न लौटने से युधिष्ठिर चिन्ता मे पड गए । उन्होने अर्जुन को भीम की तलाश मे भेजा । किन्तु जलाशय पर पहुँचने पर अर्जुन का भी वही हाल हुआ । अर्जुन का निशाना अचूक था ।

तीव्र गति से चक्कर काटती हुई चिडिया के नेत्र को वह बीध सकता था। उसके तीर पाताल मे से पानी की धारा को भी खीचकर ले आते थे। किन्तु उसकी बुद्धि का बाण ससार के "किम् आश्चर्यम्' तक नही पहुँच सका। और उसने भी भाई भीम का ही अनुसरण किया। उसके बाद नकुल और सहदेव भी बारी-बारी से आए पर उनकी क्या बिसात थी! वे भी जलाशय की किसी अदृश्य शक्ति के वशीभूत होकर चेतनारहित हो गए और गिर पडे।

अपने चारो भाइयो को एक-एक करके गये हुए पर लौटकर न आये देखकर युधिष्ठर बडे विकल हुए। अत मे वे स्वय ही माता को एक सुरक्षित स्थान पर बैठाकर भाइयो की खोज मे निकले।

जलाशय दूर नही था। वे शीघ्र ही वहाँ पहुँच गए। उसके किनारे पर पहुँचते ही उन्हे भी वही ध्वनि सुनाई दी। किसी अदृश्य शक्ति ने उनसे अपना प्रश्न पूछा --"किम् आश्चर्यम् ?"

युधिष्ठर बडे ज्ञानी थे। उन्होंने तत्काल प्रश्न का उत्तर दिया —

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममंदिर।
शेषा जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमत परम्॥

अर्थात्—नित्यप्रति अनेकानेक प्राणी यमलोक को जा रहे हैं। उन्हें जाते हुए देखकर भी शेष सभी मनुष्य जीवित रहना चाहते है। सोचते है— हम अमर होने का पट्टा लिखा लाए हैं। मौत हमारे पास फटकती ही नही। इससे बढकर ससार में आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है ?

युधिष्ठिर का उत्तर सुनते ही जलाशय मे से प्रसन्नतापूर्ण ध्वनि हुई— बन्धु! मेरे प्रश्न का सही उत्तर मिल गया है। तुम जलाशय मे से जल लेजा सकते हो। हाँ एक बात और है—समीप ही तुम्हारे चारो भाई मृतक पडे हुए है। इनमे से किसी एक को जीवित कर सकता हूँ। बोलो! किसका जीवन तुम्हे प्रिय है ?

आवाज सुनते ही युधिष्ठिर ने अपनी दृष्टि चारो ओर दौडाई। देखा कि वास्तव मे ही उनके भाई वहाँ निर्जीव होकर पडे है। असह्य शोक से जल लेने के लिए बढाया हुआ उनका हाथ वापिस रुक गया। वे विचार करने लगे कि किसे जीवित करने के लिए कहूँ ?

युधिष्ठिर बडे मनस्वी और साधु-पुरुष थे। जानते थे कि जीवनका अस्तित्व इस जगत् मे कितनी देर का है। आज कोई भी भाई जीवित होकर फिर एक

दिन जाएगा ही। मैं किस पर अधिक राग मानकर उसे जीवनदान देने के लिये कहूँ? मेरे लिये तो सभी बराबर हैं। फिर भी अच्छा हो कि मेरी छोटी माता माद्री का एक पुत्र जीवित हो जाय। प्रत्यक्ष मे उन्होंने कहा—अगर मेरे एक भाई को जीवित करना है तो नकुल को करो।

जलाशय मे से आवाज आई—धर्मराज! एक बार और विचार कर कहो। भीम और अर्जुन तुम्हारे सगे भाई हैं। शूरवीर और बलशाली हैं। उनमे से किसी को जीवन मिलने से तुम्हे अधिक प्रसन्नता होगी।

युधिष्ठिर ने दृढ स्वर से उत्तर दिया—मेरे लिये सभी भाई समान हैं। और भाई ही नही, ससार के समस्त प्राणी भी मेरे लिये अपने भाइयो की तरह ही है। इस ससार-सागर मे यह मानव-जीवन तो पानी के एक बुलबुले के समान हैं। मैंने अबतक जितने जन्म-जन्मान्तर किये है, उनमे कौन प्राणी मेरा सगा नही बना होगा? विश्व के समस्त प्राणियो के साथ मेरे एक ही क्या अनेकानेक सम्बन्ध बार-बार हो चुके है। ऐसी स्थिति में किसे अधिक प्रिय और किसे अप्रिय समझूँ!

युधिष्ठिर ने इन शब्दो के उच्चारण के साथ ही देखा कि उनके चारो भाई जीवित हो गए हैं। वे बडे चकराए और कारण नही समझ सके। किन्तु निर्मल जलाशय की अदृश्य शक्ति ने ही उनके आश्चर्य का समाधान करते हुए कहा—"धर्मपुत्र! तुम्हारी परीक्षा लेने के लिये ही मैंने कौतुकवश यह सब किया था। मुझे यह जानने की लालसा थी कि जैसा ससार कहता है ठीक वैसे ही साधु-पुरुष तुम हो या कि अन्य प्राणियों की तरह मोहाधीन स्वार्थी प्राणी हो। अब तुम अपने चारो भाइयो के साथ सहर्ष जा सकते हो। मेरी परीक्षा मे तुम खरे उतरे हो। वास्तव मे जीवन की क्षणभगुर स्थिति को तुमने समझ लिया है और उससे शिक्षा प्राप्त की है। ससार मे तुम्हारा नाम अमर रहेगा।"

बधुओ! कितना सुन्दर उदाहरण है। वास्तव मे ही इस क्षणिक जीवन के लिये मनुष्य कितना अन्याय करते हैं, कितना पाप करते है। अपने और इस जीवन के अपने परिवार के लिये मनुष्य दूसरो का गला काटकर, दूसरो के पेट मे लात मारकर धन इकट्ठा करते हैं, किन्तु क्या वे पुत्र-पौत्र और भाई अगले भव मे मनुष्य को पापो का फल भोगने से बचा सकते है? कभी नही। वह तो जीव को अकेले ही भोगना पडता है। कहा भी है —

पापो का फल एकले, भोगा कितनी वार।
कौन सहायक था हुआ, कर ले जरा विचार ॥
कर जिनके हित पाप तू चला नरक के द्वार।
देख भोगते स्वर्ग सुख, वे ही अपरम्पार ॥

मनुष्य वास्तव मे कितनी भयकर भूल करते है। प्रतिदिन इस ससार मे आवागमन के नाटक को देखते हुए भी अपने जीवन को शाश्वत मानकर मनके हवाई किले बनाते रहते है। अपने इस क्षणिक जीवन के सम्बन्धियो को ही अपना मानते हुए उनमे मोहासक्त बने रहते हैं। अपनी जाति और कुल के घमड मे जमीन पर पैर रखना नही चाहते। वे भूल जाते हैं कि मेरी आत्मा ने भी तो अनेक उच्च और नीच योनियो मे भ्रमण किया है। विद्वान प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने जीव के इस भ्रमण चक्र को इस प्रकार समझाया है —

सब जीवो से सब जीवो के सब सम्बन्ध हुए हैं।
लोक प्रदेश असख्य जीव ने अगणित वार छुए हैं ॥
उच्च योनि मे नीच योनि मे काल अनन्त गवाया।
शूकर श्वपच श्वान हो होकर ऊचे कुल मे आया ॥

यह है वास्तव मे ससार के प्राणियो की सही स्थिति। धन, परिवार जाति अथवा कुल का दम्भ बालू के महल की तरह है जो कि इस क्षणिक जीवन के समाप्त होते ही ढह जाता है। अगर यह ससार ही सुखो का धाम होता तो बडे-बडे चक्रवर्ती, सम्राट् और तीर्थंकर इसके सुखो का त्याग क्यो करते? इसलिये प्रत्येक मनुष्य को इसकी क्षणभगुरता का ध्यान रखते हुए अत्यन्त विवेकपूर्वक अपना जीवनलक्ष्य निर्मित करना चाहिये।

अत मे एक बात और आपसे कहना चाहता हूँ। वह यही है कि आप इसकी अनित्यता को तो ध्यान मे रखे किन्तु इसे अल्प समय का मानकर इससे निराश न हो और इसे निरर्थक ही न बहा दे। यह न सोचने लग जाएँ कि मृत्यु तो होनी ही है फिर अब क्या करना है इसका?

मेरे भाइयो! हमने अनेकानेक योनियो मे अनेको वार जन्म लिया है और मरण को प्राप्त किया है। उस बीच मे जितना समय व्यतीत हुआ है उसके मुकाबले मे तो मानव-जीवन वास्तव मे ही अत्यल्प है किन्तु महत्त्व की दृष्टि से यह अत्यन्त मूल्यवान् है। अनेक वार हमने नरक गति प्राप्त की होगी। अनेक वार तिर्यच योनि मे भी जन्मे होगे। लेकिन उन भवो मे हमारी

आत्मा कितनी निर्बल रही। पेड, पौवे, पशु, पक्षी आदि बनकर क्या हम आज की तरह कुछ सोच सकते थे ? समझ सकते थे ? क्या मोक्षप्राप्ति का कुछ उपाय कर सकते थे ? नही, वह सब सिर्फ इस मानव जीवन मे ही हो सकता है। और इसीलिये इस मनुष्यगति को देवगति से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। मनुष्य जीवन क्षणभगुर होने से हमे ध्यान इस बात का ही रखना है कि जितना समय भी हमे इस जीवन मे मिला है उसमे से एक क्षण भी व्यर्थ न जाए। भगवान् महावीर स्वामी ने कहा है —

दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवाग कम्मुणो, समय गोयम मा पमायए।।

अर्थात् सभी प्राणियो के लिये मनुष्य जन्म बहुत लम्बे काल मे भी कितना दुर्लभ है ! क्योकि दुष्कर्मों का विपाक अत्यन्त गाढा होता है। इसलिये हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत करो।

मनुष्य गति अन्य तीनो गतियो से अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योकि, आत्मा मानवपर्याय मे ही मुक्ति को प्राप्त कर सकती है, अन्य किसी भी पर्याय से नही। मनुष्य जन्म के लिये तो देवता भी तरसते हैं। बडे भाग्य से तथा अनेक पुण्यो के उदय से यह मानवभव मिला है। आज आप लोग रुपया पैसा अत्यन्त सावधानी से सम्हाल कर रखते है कि कही खो न जाए। किन्तु यह मानवजीवन, जो हजारो, लाखो, करोडो यहाँ तक कि छह खड का वैभव देकर भी नही खरीदा जा सकता, इतना मूल्यवान् है और हमे मिला है तो हमे इसका कितना लाभ नही उठा लेना चाहिये ?

भगवान् का उपदेश सिर्फ गौतम के लिये ही नही था। वह हमारे, आपके और मनुष्य मात्र के लिये है। गौतम स्वामी महान् पुरुष थे और साधनारत ही रहते थे। उन्हे भी जब भगवान् ने बार-बार चेतावनी दी है, तो आज सासारिक प्रपचो मे फसे हुए मनुष्यो के लिये तो इस चेतावनी की कितनी अधिक आवश्यकता है।

आप प्रश्न करेंगे कि जीवन की सार्थकता किसमे है ? किस प्रकार जीवन को सफल बनाया जाय ?

इस विषय मैं हम फिर विचार करेगे। किन गुणो का अवलबन करके मनुष्य अपने जीवन को सार्थक बना सकता है, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है और इस पर विचार करना ही चाहिए।

●

जीवन की सार्थकता

बंधुओ ! कल हमने मानव जीवन की क्षणभंगुरता पर विचार किया था। साथ ही इसकी दुर्लभता एवं महत्ता पर भी कुछ प्रकाश डाला था। आज हम इस दुर्लभ मानवजीवन को सार्थक बनाने के प्रयत्नो के संबंध मे कुछ विशेष जानकारी प्रदान करने की कोशिश करेंगे।

बताया गया था कि मानव-जीवन असंख्य योनियो मे भ्रमण करने के पश्चात् भी अनन्त पुण्य का उदय होने पर प्राप्त होता है, और नरक, तिर्यंच तथा देवताओ के जीवन की अपेक्षा भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है, क्योकि मनुष्य पर्याय मे ही आत्मा जन्म मरण को नष्ट करने का प्रयत्न कर सकती है और इस जीवन मे ही वह अपनी मुक्ति की क्षमता प्राप्त करती है।

मनुष्यगति को हम भव-सागर का किनारा भी कह सकते हैं। मानव जीवन को प्राप्त करने पर आत्मा मानो ऐसे स्थान पर होती है, जहा से थोडा सा ही आगे बढने पर वह मुक्ति के अखड साम्राज्य मे प्रवेश कर सकती है। किन्तु तनिक भी विचलित हो जाने पर किनारा छूट जाता है और आत्मा उसी भवसमुद्र मे पुन पुन डूबने-उतराने लगती है। अर्थात् जन्म-मरण का चक्कर फिर चलने लगता है और फिर से वह किनारा प्राप्त करना महा-कठिन हो जाता है। परिणाम यह होता है कि असख्य जन्मो के परिश्रम से प्राप्त किया हुआ स्वर्णावसर चला जाता है और जीव फिर से अनन्त काल तक उस तीर को पाने के प्रयत्न मे लग जाता है।

इस कथन से आप कल्पना कर सकते हैं कि मनुष्य जन्म कितना मूल्य-वान् है और प्रमाद अथवा असावधानी से इसे खो देना कितनी भयकर भूल है। सम्पूर्ण सागर को तैर जाने वाला व्यक्ति किनारे तक आकर हाथ पैर चलाना छोड दे तो उसका सम्पूर्ण सागर का तैरने का श्रम किस काम आया। भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी को संबोधित करके यही कहा है —

तिण्णो हु सि अण्णव मह
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पार गमित्तए,
समय गोयम ! मा पमायए।

—उत्तराध्ययन सूत्र १०-३४

अर्थात् हे गौतम ! तुम निश्चय ही इस ससाररूपी महा-समुद्र को तैर गए हो, पर किनारे पर आकर क्यों रुक रहे हो। अब तो इसे भी शीघ्र पार करने का प्रयत्न करो। समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

मानवमात्र के लिये भगवान् का कितना प्रेरणाप्रद उपदेश है ! प्रत्येक मनुष्य जीवन जीता है किन्तु कितने व्यक्ति ऐसे है जो जीवन की सार्थकता के विषय मे गभीर चिन्तन करते है ? प्रत्येक मनुष्य बाज़ार से पाच पैसे की भी वस्तु खरीदता है तो उसकी उपयोगिता के बारे मे विचार कर लेता है। उसे अधिक से अधिक सार्थक बनाने का निश्चय करता है। मगर अपने अमूल्य जीवन की उपयोगिता और सार्थकता के बारे मे उसे कोई विचार नही आता !

इससे मालूम होता है कि पाँच पैसे वाली वस्तु मनुष्य के लिये अधिक महत्वपूर्ण है और जीवन उसकी तुलना मे तुच्छ। इसीलिये वह उस वस्तु की सम्हाल अधिक करता है और जीवन के प्रति उपेक्षा का भाव प्रदर्शित करता है। आश्चर्य है मनुष्य ऐसे जीवन की उपेक्षा करते है जिसकी प्राप्ति के लिये देवता भी लालायित रहते है।

कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते है जो जीवन की सफलता के विषय मे विचार तो करते है किन्तु उनकी दृष्टि अति सीमित होती है। ऐसे व्यक्ति सिर्फ लौकिक सफलता की दृष्टि से विचार करते है, आत्मा के कल्याण का दृष्टिकोण उनके सामने नही रहता। कोई धन कमाकर आराम से जीवन यापन मे, कोई मान-प्रतिष्ठा की प्राप्ति मे, कोई सम्पन्न परिवार बनाने मे और कोई भोगोपभोग मे जीवन का साफल्य देखते है। उनकी दृष्टि मे शरीर ही मुख्य होता है और शरीर मे स्थित आत्मा नगण्य। दूसरे शब्दो मे हम यह भी कह सकते है कि शरीर और आत्मा को वे भिन्न नही समझ पाते। शरीर के सुख को ही आत्मा का सुख मान लेते है। ऐसे अज्ञानी व्यक्ति मानव-जीवन पाकर भी उससे लाभ नही उठा पाते और क्षणिक वैषयिक सुख की प्राप्ति के प्रयत्न मे आत्मा को दीर्घकाल के लिये दुखी बना लेते है। वे सुखाभास को

सुख समझकर आत्मा को दुखों के अथाह सागर मे डुबकियाँ लगाने को छोड देते हैं। ऐसे विवेकहीन प्राणियो के लिये ही कवि कहते है —

> सौख्य बूँद भर मिला कभी तो वह कब तक ठहरेगा ?
> अगले ही क्षण भोले प्राणी ! दुख सागर लहरेगा।
> राई भर सुख के निमित्त क्यो, दुख सुमेरु भुलाया,
> सन्तो के उपदेशो को भी तूने हाय लजाया ।।

वस्तुतः शरीर और आत्मा भिन्न है। उनका स्वरूप भिन्न प्रकार का है। शरीर को सुख पहुचाने का प्रयत्न करने वाला व्यक्ति आत्मा को सुखी (मुक्त) नही कर सकता और आत्मा को सुखी करने की आकाक्षा रखनेवाला व्यक्ति शरीर की परवाह नही करता।

शरीर अनित्य है और शारीरिक सुख भी अनित्य है पर आत्मा अजर-अमर है और उसका सुख भी अनन्त काल की मुक्तावस्था है। शरीर को सुख देने का प्रयत्न करते रहने पर आत्मा को बार बार विभिन्न प्रकार के शरीरो मे कैद रहना पडता है और वह इन कारागारो मे मुक्त नही हो पाती। किन्तु शरीर का मोह छोड देने पर और इसके लिये किये जाने वाले कुकृत्यो का त्याग कर देने पर आत्मा के बधन टूटते जाते है और ऐसा समय आ जाता है जब कि वह बधनरहित होकर स्वय सहज आनन्द का धाम बन जाती है।

मनुष्य को गभीर चिन्तन के द्वारा यह भलीभाति समझ लेना चाहिये कि आत्मा का साथ कोई भी शरीर नही देता –कीट, पतग, पशु पक्षी और यह मनुष्य का शरीर भी नही। किन्तु मनुष्य का यह शरीर आत्मा के बधन मुक्त होने मे सहायक होता है। सिर्फ मनुष्य शरीर ही ऐसा है जिसकी सहायता से आत्मा भव समुद्र पार करती है। विश्व के समस्त प्राणियो मे से सिर्फ मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसे आत्मा के विषय मे, विचारने की, चिन्तन-मनन करने की तथा आत्मा को कर्मों के बन्धनो से मुक्त करने की शक्ति मिली हुई है। मनुष्य को ही असाधारण मस्तिष्क, विशिष्ट विवेक, बुद्धि तथा विशाल हृदय मिला हुआ है। इसीलिये चरम सीमा का आध्यात्मिक विकास करके मनुष्य चौदह गुणस्थानो को भी पार करके परमात्म-पद प्राप्त कर सकता है। देवता तो अधिक से अधिक चार गुणस्थान ही प्राप्त कर पाते है। यद्यपि सासारिक सुखो के लिहाज से देव मनुष्य की अपेक्षा अधिक सुखो का उपभोग करते है किन्तु आध्यात्मिक सिद्धि और साधना का जहाँ सवाल आता है वहाँ

देवता मनुष्य से हीन साबित हो जाते है। अनन्त और असीम सुख जो आत्मा का गुण है, मनुष्यभव से ही प्राप्त होता है। इसीलिये कहते हैं कि स्वर्ग की भी आकाक्षा न करके मानवभव को दुर्लभ मानते हुए इसी जीवन के द्वारा मनुष्य को शाश्वत सुख पाने का प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि —

बाल तपस्या के निमित्त से देवो की गति पाई,
तो तप-सयम-देशविरति भी पा न सकोगे भाई।
इस प्रकार मानव भव ही है शाश्वत सुख का कारण,
बडे भाग्य से वह पाया है, कर लो दु ख निवारण ॥

कितनी सुन्दर शिक्षा है। कवि ने मानव जीवन का महत्व और उसकी सफलता को कुछ ही पक्तियो मे बहुत सरल तरीके मे समझा दिया है। जो व्यक्ति बहिरात्मा है, पुद्गलानन्दी है और परलोक को नही मानते, वे इस जीवन के साथ ही आत्मा की समाप्ति भी मान लेते है। उनका तो यह सिद्धात है — "ऋण कृत्वा घृत पिबेत्" (मौज कर लो, ऋण ले लेकर घी पिओ और इस छोटी-सी जिन्दगी मे मजे उडा लो।)

किन्तु ऐसे व्यक्ति घोर अन्धकार मे भटक रहे हैं और इस जीवन के साथ ही साथ अपने आगे के अनन्त भवो को भी बिगाड रहे है। जीवन की वास्तविक सफलता केवल इसी जीवन को आनन्दपूर्वक गुजार देने मे नही है। मानव जीवन का उद्देश्य यह है कि इसके द्वारा आत्मा अखड शाति, अक्षय सुख और शाश्वत मुक्ति प्राप्त करे। धन, वैभव, कीर्ति परिवार या भौतिक सिद्धिया प्राप्त करना मानव-जीवन का लक्ष्य नही है।

एक साधक ने कठिन साधना करके पानी पर चलने की सिद्धि प्राप्त कर ली। प्रसन्नता से उछलता हुआ वह अपने गुरु के पास आया। बोला— महाराज! मुझे जल पर चलने की सिद्धि प्राप्त हो गई।

महात्मा जी ने कहा —बस, यह कौन बडी बात है! यह काम तो मल्लाह दो पैसे मे ही कर देता है। क्या तुमने इतनी तपस्या इस तुच्छ शक्ति को प्राप्त करने के लिए की थी? तप केवल मुक्ति की प्राप्ति के लिये करना चाहिए।

यह छोटा-सा उदाहरण जीवन के सही लक्ष्य को बताता है और इसे ही एक और पद के द्वारा भी समझा जा सकता है —

आनन्दरूपो, निजबोधरूपो,
दिव्यस्वरूपो, बहुनामरूप ।

तप समाधौ कलितो न येन,

वृथा गत तस्य नरस्य जीवितम् ॥

जिस मनुष्य ने तपस्या करके तथा समाधि धारण करके अपनी आत्मा के अनन्त, आनन्दमय स्वरूप को नही पहचाना और जिसने अपने उपयोगमय चेतन स्वरूप को नही समझा, अपने समस्त पर्यायो मे अतीत लोकोत्तर स्वरूप को नही जाना तथा उसमे तन्मयता प्राप्त नही की, उस मनुष्य का जीवन वृथा चला गया।

मनुष्य जीवन के इस विराट उद्देश्य की ओर ध्यान नही देता, यह कितने दु ख की बात है। वह जीवन भर दुनियादारी के धधो मे फसा रहता है। जिस प्रकार पशुओ को अपने भविष्य की चिन्ता नही रहती इसी प्रकार अधिकाश मनुष्य भी अपने वर्तमान जीवन को ही सुखी बनाने के प्रयत्न मे रहते है, भविष्य की परवाह नही करते। ऐसे मनुष्यो मे और पशुओ मे आकृतिभेद के अलावा और क्या भेद कहा जा सकता है? यह ठीक है कि ससार मे रहते हुए मनुष्य को अनेक लौकिक कर्त्तव्यो का पालन करना पडता है किन्तु मोह, आसक्ति तथा लोलुपता पूर्वक सासारिक कार्य करने मे कर्मों का बन्ध होता है। कर्मों के बन्ध का मूल कारण भावनाओ की गृद्धता है। रामकृष्ण परमहस कहते है —

"नाव जल मे रहे तो कुछ हर्ज नही परन्तु नाव मे जल नही रहना चाहिये। इसी प्रकार साधक चाहे ससार मे रहे परन्तु साधक के मन मे ससार नही रहना चाहिये।"

अभिप्राय यह है कि मनुष्य के समस्त कर्म, यत्न, पुरुषार्थ और भावनाएँ विषय-वासना के पोषण के लिये नही वरन् शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिये होनी चाहिये। ससार मे रत रहने वाले मनुष्यो के हृदय स्वार्थ के कारण अत्यन्त सकुचित हो जाते हैं। अपनी और अपने परिवार की भलाई के अलावा और कोई कार्य करना उन्हे नही सूझता। किन्तु इसके विपरीत जो पुरुष विशालहृदय होते है वे ससार के सभी प्राणियो को आत्मवत् मानते हैं और सभी की कल्याणकामना मे रत रहते है। ऐसे व्यक्ति ही अपने जीवन को उच्चता की ओर ले जाते हैं तथा जीवन को सार्थक बनाते हैं।

उदार दृष्टिकोण तथा आत्मीयता की विस्तृत भावना सफल जीवन का मूल है। भगवान् महावीर के कथनानुसार जिसकी आत्मीयता समस्त विश्व मे फैल जाती है वह किसी मे भी राग अथवा द्वेष नही करता। ऐसे व्यक्ति के हृदय

मे मित्र और शत्रु, अपने और पराये, स्नेही और विरोधी, तथा परिचित और अपरिचित आदि मे कोई भेदभाव नही रहता। कीडी और कुन्जर सभी को वह समान दृष्टि मे देखता है और सभी प्राणियो मे परमात्मा का स्वरूप देखता है।

कहते है एक बार गुरु नानक यात्रा करते हुए मक्का पहुँच गए। रात को वे काबे की तरफ पैर करके सो गए। सुबह जब मौलवियो ने उन्हे इस तरह सोते हुए देखा तो गुस्से मे लाल होकर डाटा—अरे बेवकूफ ! कौन है तू ? खुदा के घर की ओर पैर पसारे पडा है ! तुझे शर्म नही आती।

गुरु नानक ने धीरे से कहा—"तो भाई ! जिधर खुदा न हो उधर कर दो मेरे पैर।" यह सुनकर मौलवी चुपचाप वहा से चल दिये।

जो मनुष्य अपने लिये ही जीवित रहता है और अपने स्वार्थ के लिये ही समस्त कार्य करता है वह अत्यन्त सकुचित भावना वाला है। इसके विपरीत जो व्यक्ति अपनी आत्मीयता की भावना को विस्तृत करके प्राणीमात्र की भलाई के लिये प्रयत्न करता है वह विशालहृदय पुरुष सफलता की ओर उन्मुख हुआ माना जा सकता है। इस भावना का विकास भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है।

कुछ व्यक्ति अपने ही स्वार्थ तथा अपने ही शारीरिक सुख का ध्यान रखते है। कुछ उनसे आगे बढकर अपने सबन्धियो का भी ध्यान रखने का प्रयत्न करते हैं। और कुछ अधिक उदार हृदय वाले अपने नगरनिवासियो का हित चाहते है पर उनसे भी अधिक उदार दृष्टिकोण वाले व्यक्ति अपनी उदारता को राष्ट्र-व्यापक बना लेते है। किन्तु जो सच्चे साधु पुरुष होते हैं वे विश्व के प्रत्येक प्राणी को अपना बन्धु समझते है और प्रत्येक के सुख और दु ख को अपना ही दु ख-सुख मानते है। ऐसे व्यक्ति ही राग द्वेष से मुक्त होकर निश्चितता पूर्वक साधना कर सकते है और आत्मा को उच्च बनाने मे समर्थ होते है।

अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊँचे उठकर जो व्यक्ति अपने राष्ट्र तक अपनी आत्मीयता की भावना का विस्तार कर पाते है वे भी अपने राष्ट्र के ही प्रति राग होने से द्वेष की भावना से मुक्त नही हो पाते। अपने राष्ट्र के हित को सर्वोपरि समझ कर तनिक भी विरोधी स्थिति पैदा होते ही खून-खच्चर करने को तैयार हो जाते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि ससार के समस्त

मानव समान है और उनका सुख-दुःख भी समान है। विभिन्न भूखड एक मानवजाति को खडित नही कर सकते।

पेरिस के एक झोपडे मे इब्राहीम नामक व्यक्ति अपनी बीवी और बच्चो के साथ रहता था। यह बडा धर्मात्मा और उदार था। अपने यहा आने वाले अतिथि को वह अत्यन्त प्रेम से जो भी रूखा-सूखा उसके घर मे होता, खिलाता था।

एक दिन एक अत्यन्त बूढा व्यक्ति लडखडाता हुआ उसके यहा आया और बोला—बेटा, बडी दूर से आया हू और अत्यन्त भूखा हूँ।

इब्राहीम तुरन्त गया और खाना लेकर आया। सारे परिवार के साथ-खाना शुरू किया। खाना शुरू करने से पहले इब्राहीम ने 'हस्ब-मामूल अपनी प्रार्थना पढी। उसकी बीबी और बच्चो ने भी उसका साथ दिया किन्तु बूढा उस प्रार्थना मे शामिल नही हुआ। इब्राहीम ने पूछा—क्या तुम हमारे ईश्वर मे विश्वास नही करते ? तुमने हमारे साथ प्रार्थना क्यो नही बोली ?

बूढे ने जवाब दिया—हम अग्नि की पूजा करते है।

यह सुनते ही इब्राहीम भडक गया और चिल्लाकर बोला—अगर तुम्हे मेरे ईश्वर मे विश्वास नही है तो तुम इसी वक्त घर से निकल जाओ। बूढा चुपचाप उठकर चल दिया। लेकिन ज्यो ही बूढा बाहर गया कि कमरे मे एक फरिश्ता प्रकट हुआ और इब्राहीम से तिरस्कार पूर्वक बोला—'यह तुमने क्या किया ? ईश्वर तो इस गरीब बूढे का सौ वर्ष से भरण-पोषण कर रहा है और तुम धर्मात्मा कहलाकर भी उसे खाना नही खिला सके ! और सिर्फ इस कारण कि वह अन्य धर्मावलम्बी है। दुनिया मे धर्म कितने ही हो किन्तु ईश्वर एक है और वह सभी का है।'

फरिश्ता यह कहकर गायब हो गया। इब्राहीम को अपनी मूर्खता का पता लगा और वह घर से बाहर भागता हुआ बूढे के समीप पहुँच कर उससे क्षमा याचना करने लगा।

बूढे ने कहा—शायद तुमने अनुभव कर लिया है कि ईश्वर एक है। इब्राहीम यह सुनकर दग रह गया, क्योकि फरिश्ते ने भी उससे यही बात कही थी।

कहने का तात्पर्य यही है कि ईश्वर तथा धर्म किसी की बपौती नही

होते। मच्चा धर्म किसी भी धर्म मे घृणा करना या अन्यधर्मियो का तिरस्कार करना नही सिखाता। वह मनुष्य को आश्रितो का मम्मान करना, दीन-दुखियो पर द्रवित होना तथा विश्व के प्रत्येक प्राणी की भलाई करना सिखाता है। तुलसीदासजी ने कहा है —

पर-हित सरिस धर्म नहि भाई।
पर पीडा सम नहि अधमाई॥

विश्वव्यापी लोक कर्म तो पर हित की भावना ही है। इसे ससार के सभी धर्म और मभी शास्त्र मानते है। धर्म तथा सम्प्रदाय के नाम पर राग द्वेप करना अज्ञानियो का कार्य है। ज्ञानी पुरुपो को इस सकीर्णता के दायरे से मुक्त होकर जीवन को निर्मल वनाना चाहिये। महात्मा गाधीजी ने एक जगह कहा है . —

"धर्म वुद्धिग्राह्य नही हृदयग्राह्य होता है। धर्म का उद्देश्य है कि मनुष्य मे अटल वल प्राप्त हो। धर्म जिन्दगी की हर सास के साथ अमल मे लाने वाली चीज है। किमी भी स्थिति मे उसका त्याग नही होना चाहिये। गभीरता, उदारता, विश्वस्तता, तत्परता तथा दयालुता का व्यवहार ही सच्चे धर्म का द्योतक है। जो भावना हमारे विकारो को नष्ट करे, राग-द्वेप को कम करे, ईश्वर के विपय मे तथा पुनर्जन्म मे अविचल श्रद्धा पैदा करे तथा सत्य और अहिमा पर मिट जाने की दृढता लावे वही विशाल और व्यापक धर्म है।'

धर्म की महिमा और उसका सार पडितप्रवर शोभाचन्द्र भारिल्ल ने वडे सुन्दर ढग से वताया है :—

ससार सारा जिसके विना है, अत्यन्त निस्सार मसान जैसा,
साकार है शान्ति वसुन्धरा की, हे धर्म ! तू ही जग का सहारा।
तू सार है 'वेद', 'पुराण' का औ तू सार है 'शास्त्र' 'कुरान' का भी,
तेरे लिये ग्रन्थसमूह सारा, गाती सुगाथा तव शारदा है॥
दानादि हैं रूप अनेक तेरे, जो विश्व को स्वर्ग वना रहे हैं,
आराधते निर्मल चित्त मे जो, पाते वही जीवन लाभ पूरा॥

साराश यही है कि हृदय की सकीर्णता का विशालता मे वदल लेना ही सच्चा धर्म है और यही समस्त शास्त्र, वेद, पुराण तथा कुरान का भी सार है। ऐसे धर्म का अवलम्वन लेकर ही समस्त तीर्थंकर और चक्रवर्ती अपने नर-जीवन को सार्थक वना गए हैं और ससार सागर को पार कर चुके हैं।

सच्चा साधक वही है, समग्र विश्व जिसका आगार है और प्रत्येक जीव उसका वन्धु। जो आत्मीयता की भावना को इतनी उच्च वना लेता है वही जीवन की सार्थकता को समझ पाता है।

सफल जीवन का दूसरा सूत्र है अनुकम्पा की भावना। जिस मनुष्य की आत्मीयता समग्र विश्व मे फैल जाती है, वह किसी के प्रति भी द्वेष और कषाय की भावना नही रखता। अनुकम्पा से उसका हृदय सर्वदा परिपूर्ण रहता है और ससार के प्रत्येक प्राणी को सुख पहुँचाने के लिये उसकी करुणा का स्रोत प्रवाहित रहता है।

श्रेष्ठ पुरुष मित्र और शत्रु पर, पापी अथवा पुण्यात्मा पर और वडे अथवा छोटे प्रत्येक जीव पर दया का सागर उँडेलता है। उसे समस्त स्थावर और जगम विश्व केवल आत्मस्वरूप ही दिखलाई देता है। इसीलिये उसके अन्तस्तल मे मित्र और शत्रु का, उच्च और अधम का भेद-भाव निकल जाता है। जिनके हृदय मे करुणा का सागर लहराता है वे मनुष्य क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी को भी कष्ट पहुँचाने से भयभीत होते है। शेख सादी ने कहा है —

जेरे पायत गर विदानी हाले मोर।
हम चू हाले तुस्त जेरे पाय फील ॥

अर्थात् एक चीटी को भी अपने पैर के नीचे आने को ऐसा जान जैसे तू स्वयं एक हाथी के पाव के नीचे आ गया हो। हाथी के पाव के नीचे आने पर तेरी जैसी दशा होगी, तेरे पैर के नीचे चीटी के आने पर उसकी भी हालत वैसी ही होगी।

अहिंसा की कितनी गहरी अनुभूति इस कथन मे विद्यमान है। ऐसी उक्तियो के देखने सुनने से ज्ञात हो जाता है कि अहिंसा की भावना सर्वधर्म-सम्मत है। जैन शास्त्रो मे अहिंसा का जैसा सर्वांगीण, विशद, प्रभावोत्पादक तथा व्यावहारिक विश्लेषण किया गया है वैसा किसी भी अन्य भारतीय धर्म-शास्त्र मे नही मिलता, किन्तु अहिंसा का शासन सभी धर्मो पर है।

अनुकम्पा जैनधर्म का प्राण है और जैनाचार की मूल भित्ति है। सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि जैनधर्म का दूसरा नाम अहिंसा अथवा दया-धर्म है— दया के अभाव मे कोई भी कार्य धर्म नही हो सकता। मगर दूसरे शास्त्र भी दया और अनुकम्पा की महत्ता को स्वीकार करते है।

"यस्य जीवदया नास्ति सर्वमेतन्निरर्थकम्।"

— महाभारत

—जिसके हृदय मे जीवदया नही है, उसकी समस्त क्रियाएँ फल हीन है।

उत्तम पुरुष पापी, पुण्यात्मा तथा महागर्हित अपराध करने वाले व्यक्तियो पर भी दया भाव रखते है। क्योकि ससार मे कोई भी ऐसा व्यक्ति नही होता जिससे कभी कोई अपराव नही होता हो। दुनिया का अस्तित्व हिसा पर नही वरन अहिसा पर ही टिका हुआ होता है। अनुकम्पा की भावना स्वय अनुकम्पा करने वाले के हृदय को निर्मल और निष्पाप बनती है तथा जिस पर अनुकम्पा की जाती है उसे भी भय-रहित करती है। इसीलिये कहा जाता है :—

Mercy is twice blessed, it blessed him that gives, and him that takes

—शेक्सपीयर

दया दोनो पर कृपा करती है। दाता पर भी और जिस पर दया की जाती है उस पर भी।

जैन धर्म मे अहिसा की अनेक श्रेणियाँ है। साधुओ के लिये, किसी भी काल मे, किसी भी स्थान पर और किसी भी अवस्था मे मन, वचन और काय से कोई भी दयारहित, हिसापूर्ण विचार अथवा कार्य वर्जित है। साधु की प्रत्येक क्रिया अहिसामय होनी चाहिये। भगवान महावीर का कथन है —

जय चरे जय चिट्ठे, जयमासे जय सए।
जय भुजन्तो भासन्तो, पावकम्म न वधई॥

—दशवैकालिक ४-८

अर्थात् यतना पूर्वक चलने से, यतना पूर्वक ठहरने मे, यतना पूर्वक बैठने से, यतना पूर्वक शयन करने से, यतना पूर्वक ही भोजन और भाषण करने से पाप-कर्मों का वन्ध नही होता।

सार यही है कि साधक के मन मे अनुकम्पा प्रत्येक स्थिति मे और प्रत्येक कार्य करते समय बनी रहनी चाहिये और अत्यत यत्नपूर्वक लघु से लघु जीवो का ध्यान रखते हुए उसे अपनी गतिविधि का निर्धारण करना चाहिये।

एक बार चम्पारन के एक गाँव मे देवी की भेंट के लिये एक बकरे को फूल-मालाओ से सजाकर जुलूस मे निकाला जा रहा था। दैवयोग से गाधीजी उस दिन उसी गाँव मे थे। जब जुलूस गांधीजी के निवास-स्थान के

समीप से गुजरा तो गाधीजी कौतूहलवश बाहर निकल आए। और जुलूस मे चलने वाले आदमियो से उन्होंने पूछा --इस बकरे को कहाँ ले जा रहे हो ?

उत्तर मिला देवी को भोग चढाने के लिये।

गाधीजी ने कहा—भाइयो ! बकरे से तो आदमी अच्छा होता है न ?

किसी ने उत्तर दिया—जी हाँ।

गाधीजी ने तब कहा—तो फिर देवी को अगर किसी आदमी का भोग चढाएँ तो वह ज्यादा प्रसन्न होगी ? क्या आप लोगो मे से कोई देवी को खुश करने के लिये उसका भोग बनने को तैयार है ? अगर कोई न हो तो मैं तैयार हूँ देवी का भोग बनने के लिये।

लोग एक दूसरे का मुह ताकने लगे। क्या जवाब दें, यह उन्हे सूझा ही नही।

तब गाधीजी ने उन्हे कहा—भाइयो, बेजबान प्राणी के खून से देवी खुश नहीं होती। ऐसे अधर्म और पाप से उलटे नाराज होती है। उसे प्रसन्न करना हो तो सच्चाई के मार्ग पर चलो और ससार के प्रत्येक प्राणी पर दया दिखलाओ। इस बकरे को छोड दो ! देवी तुम पर अधिक प्रसन्न होगी।

गाधीजी के कथन का बडा चामत्कारिक प्रभाव पडा। लोग उनके पैरो पर गिर पडे। बकरे की प्राणरक्षा हुई और लोग पाप से बच गए। उनके विवेक को नवीन दिशा मिली।

अनुकम्पा की भावना जीवन को निष्पाप बनाती है। पर यहा एक बात मुझे और कहना है। वह यह कि सिर्फ शरीर से जीवहिंसा त्याग देना ही परिपूर्ण दया नही है। शरीर से हिंसा न करते हुए भी अगर मन तथा वचन से, कषाय के वशीभूत होकर किसी प्राणी को दुर्वचन कह कर उसका मन दुखाया जाय या मन मे किसी का अशुभ करने की भावना आ जाए तो वह भी पाप है और कर्मों के बध का कारण है।

जिस व्यक्ति ने दया-व्रत को अगीकार किया हो उसे न तो मन मे किसी का अहित विचारना चाहिये और न वचनो से ही किसी को पीडा पहुचानी चाहिये। किसी शायर ने कहा है—

छुरी का, तीर का, तलवार का घाव भरेगा।
लगा जो ज़ख्म ज़बाँ का हमेशा हरा रहेगा॥

वास्तव मे शस्त्रास्त्रो का घाव तो समय पाकर भर जाता है, चाहे वह गहरा ही क्यो न हो, किन्तु दुर्वचनो के द्वारा जो घाव हृदय मे हो जाता है वह नही भर पाता। इसलिये प्रत्येक अनुकम्पा के धारक को मन, वचन तथा काया से भी किसी को कष्ट नही पहुँचाना चाहिये।

यह सही है कि गृहस्थ अहिंसा का पालन पूरी तरह नही कर पाता। अपने विरोधी से आत्मरक्षा करने के लिये, किसी आक्रमणकारी अथवा आततायी से देश, धर्म अथवा कुटुम्ब की रक्षा के लिये उसे एक आवश्यक सीमा तक हिंसात्मक कदम उठाना पडता है किन्तु उस समय भी मनुष्य के मन मे पापी के सुधार की तथा उसे पाप कर्म से बचाने की भावना होनी चाहिये।

शिक्षक शिष्य को अनुग्रहबुद्धि से दड देता है। उसे ताडना देते हुए कभी-कभी मार-पीट भी करनी पडती है। डॉक्टर रोगी को जीवन-दान देने के लिये उसका ऑपरेशन और अगभग करता है। किन्तु इस सबके पीछे शिक्षक की और डाक्टर की भावना शिष्य अथवा बीमार को कष्ट पहुँचाने की नही होती। वह उनका हितचिन्तक ही होता है। हिंसा और अहिंसा का सम्बन्ध भावना से है। इसीलिये हिंसा के दो प्रकार माने गए हैं—द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। भावहिंसा ही वास्तविक हिंसा है।

किसी जीव के प्राणो का घात हो जाना द्रव्यहिंसा है किन्तु हिंसा करने की भावना न हो फिर भी अकस्मात् जीव का घात हो जाए तो प्रवृत्ति करने वाला हिंसा के पाप का भागी नही होता। इसके विपरीत, किसी प्राणी का घात करने की भावना होना, उसे पीडा पहुँचाने का इरादा होना, सकल्प होना भावहिंसा है। जहाँ भावहिंसा होती है वहाँ पाप होना अवश्यभावी है। जैसे देश मे दुर्भिक्ष होने पर एक व्यापारी लोभ के वशीभूत होकर अन्न के भंडार को छिपाकर रखता है और अन्न के अभाव मे अनेक मनुष्य काल-कवलित हो जाते हैं। उस स्थिति मे वह व्यापारी प्रकट रूप मे हिंसा न करता हुआ भी हिंसा के पाप का भागी बन जाता है।

कहने का अर्थ यही है कि अनुकम्पा सिर्फ शरीर को हिंसा से बचाने मे ही नही वरन् मन तथा वचन को भी हिंसा तथा पर-पीडा से बचाने मे है। मुक्ति के इच्छुक को तीनो प्रकार से अनुकम्पा धारण करना चाहिये। तभी वह अपने जीवन को सार्थक बना सकता है।

जीवन को सार्थक बनाने के लिये तीसरी आवश्यकता है नि स्वार्थ साधना की। आत्म-कल्याण की कामना करने वाले मनुष्य को ससार के निस्सार और नश्वर पदार्थों से विमुख होकर निस्वार्थ भाव मे आत्म-शुद्धि का प्रयत्न करना चाहिये। यम, नियम, दान, दया, त्याग तथा तपस्या आदि समस्त क्रियाओ के पीछे अगर मनुष्य को धन-वैभव, आदि प्राप्त करने की चाह होती है तो वहाँ स्वार्थ की भावना अपना प्रभाव दिखाए बिना नही रहती। और जहाँ स्वार्थ का अस्तित्व होता है वहाँ साधना निष्फल साबित होती है। शास्त्र का सुस्पष्ट उद्घोष है कि साधना न इहलोक या परलोक सम्बन्धी अभ्युदय के लिए की जानी चाहिए और न यश कीर्ति के लिए। उसका एक ही लक्ष्य होना चाहिए– कर्मनिर्जरा। गीता ने भी इसी कथन का अनुमोदन किया है—

तस्मादसक्त सतत कार्य कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुष ॥

अर्थात् फल सबधी आसक्ति छोडकर निरतर कर्तव्य-कर्म करो। जो फल की इच्छा छोडकर कर्म करते है उन्हे अवश्य मोक्ष पद प्राप्त होता है।

निस्वार्थ कर्मो का महत्व अनिर्वचनीय है। उसे शब्दो मे कहकर बताना बडा कठिन है। क्योकि ससार की समस्त वस्तुएँ छूट जाती है किन्तु कर्म आत्मा का साथ सतत देते हैं। एक पाश्चात्य विद्वान् ने भी कहा है—"अभाग्य मे हमारा धन, नीचता मे हमारा यश, मुसीबत से हमारा जोश, रोग मे हमारा स्वास्थ्य और मृत्यु से हमारे मित्र छीने जा सकते हैं, किन्तु हमारे कर्म मृत्यु के बाद भी हमारा पीछा करते हैं। कोई भी शक्ति उन्हे हमसे नही छीन सकती।

—कोल्टन

कर्मो के सिवाय ससार की प्रत्येक वस्तु जीव को छोडनी पडती है। अनेक वस्तुएँ तो मनुष्य के जीवनकाल मे ही छूट जाती है। हम आए दिन देखते है कि आज जो वैभव की गोद मे लोटते है कल उन्हे पेट भरने के भी लाले पड जाते हैं। आज जिन अभिन्न स्नेहियो के साथ मनुष्य राग-रग और क्रीडा मे मगन रहते हैं कल वे ही स्नेही स्वजन उन्हे रोते बिलखते छोडकर चिरकाल के लिये प्रयाण कर जाते हैं। मानव क्या कर सकता है ? कुछ भी तो नहीं, सिवाय रोने और सिर धुन-धुन कर विलाप करने के। ऐसे ही किसी व्यक्ति की दशा का वर्णन कवि ने किया है —

जा थल कीन्हे विहार अनेकन,
ता थल कांकरी वैठि चुन्यो करें ।
जा रसना सो करी वहु वातन,
ता रसना सो चरित्र गुन्यो करें ।
आलम जौन से कु जन मे करी,
केलि तहाँ अव सीस धुन्यो करें ।
आखिन मे जो सदा रहते,
तिनकी अव कान कहानी सुन्यो करें ।

मूढ और रागी पुरुप रोकर, चिल्लाकर और हाय हाय करके भी गई हुई वस्तु को और गए हुए प्रिय जनो को नही पा सकता । अतएव विवेकशील मनुष्य का कर्तव्य है कि वह ससार के स्वरूप को समझे, ससार के पदार्थो से मिलने वाले सुखो की असारता का अनुभव करे, तथा सयोगो की अनित्यता को पहचाने । वह भलीभाति समझ ले कि "मनुष्य भोगो को नहीं भोगता वरन् भोग ही उसे भोगते हैं ।"

ऐसा करने पर मनुष्य के चित्त मे स्थित राग, मोह और आसक्ति दूर हो जाएगी और उस अवस्था मे की हुई साधना निस्वार्थ वन सकेगी । मन जव पूरी तरह से सघ जाएगा, अर्थात् जव किसी भी पदार्थ का सान्निध्य अन्त करण मे विकार उत्पन्न नही कर सकेगा तव साधना सहज और निस्वार्थ भाव से की जा सकेगी । विश्व की एक भी वस्तु मे आसक्ति होने पर साधना दूषित हो जाती है । किसी भी पदार्थ की चाह न होने पर ही साधक सच्ची साधना कर सकता है और भक्त भगवान् की भक्ति ।

राम जव सीता को रावण के चगुल से छुडाकर अयोध्या आए तो उन्होंने अपने सव सहयोगियो को पुरस्कार दिया । सिर्फ हनुमान वाकी रहे ।

सीता वोली—आपने सवको दिया, पर हनुमान को तो कुछ दिया ही नही ?

राम ने कहा—देवी ! उसे तुम जो चाहो पुरस्कार दो । तुम भी लक्ष्मी का अवतार हो ।

सीता ने उसी क्षण अपने गले से वहुमूल्य रत्नहार उतार कर हनुमान को दे दिया ।

किन्तु धन्य है हनुमान को ! उसने समस्त रत्नो को एक एक करके दांतो मे तोडा और फेंक दिया । और कहा—इनमे से किसी मे भी तो राम नही

दिखाई देते, मैं इनका क्या करूँगा । मुझे तो अपनी सेवा के बदले मे किसी भी वस्तु की आकाक्षा नही है ।

इसी प्रकार साधक की साधना भी सिर्फ परमात्मपदप्राप्ति के लिये होनी चाहिये, किसी भी लौकिक फल की आकाक्षा को लेकर नही । फल तो उसके कर्म के अनुसार स्वय ही मिल जाएगा । उसके लिये मन में लोभ या लालच रखने की आवश्यकता नही है । साधना मे तन्मयता तभी आ सकती है जब साधक किसी भी वस्तु की चाह को हृदय में स्थान न दे ।

वही पुरुष शूरवीर और सच्चा साधु है जो समस्त कामनाओ को त्याग कर परम वैराग्यभाव को धारण करता है । जब तक किसी भी प्रकार की कामना हृदय मे पलती है तब तक शाति और सतोष वहाँ नही फटकते । और जप, तप तथा अनेक प्रकार के क्रियाकाण्ड सभी व्यर्थ हो जाते हैं । श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा है —

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ ! मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्ट, स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

—गीता २, ५५

अर्थात् हे अर्जुन ! वही मनुष्य स्थितप्रज्ञ या स्थिरबुद्धि वाला कहा जाता है जो मन मे उत्पन्न होने वाली समस्त कामनाओ को दूर करके अपनी आत्मा मे ही सन्तुष्ट रहता है ।

तात्पर्य यही है कि जो साधक आत्मिक आनन्द के अमृत रस से छका रहता है उसे अन्य किसी भी वस्तु मे आसक्ति या रुचि नही होती । शाति, तृप्ति, सतोष और सुख तो अन्त करण की ही प्रवृत्तियाँ हैं । महापुरुष को आत्मानन्द के अलावा और किसी भी फल की चाह नहीं होती । ऐसे पुरुष ही मानव जाति के अलकार होते हैं और उन्ही का जीवन सार्थक माना जाता है । वही अपनी आत्मा का कल्याण करते हैं और दूसरो के भी मार्गप्रदर्शक बन जाते है । इसके विपरीत, मन पर सयम न रखने वाले और यश कीर्ति की कामना करने वाले साधक त्याग, तपस्या और साधना का आडम्बर भले करें किन्तु उससे वे अपने जीवन को उन्नत और सार्थक नही बना पाते । परिणाम यह होता है कि मानव-पर्याय प्राप्त होकर भी निष्फल हो जाती है ।

बधुओ ! इसीलिये ज्ञानी पुरुष बार बार कहते हैं कि —

सबुज्झह किं न बुज्झह, सबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
णो हूवणमति राइओ, नो सुलभ पुणरावि जीविय ॥

—सूत्रकृताग, अ० २-१-१

हे मनुष्यो ! समझो ! जीवन की विनश्वरता को समझो, इस शरीर की असारता को समझो, धर्म के स्वरूप को समझो और आत्मा के कल्याण के सच्चे उपायो को समझो। यह भी समझो कि मृत्यु के पश्चात् बोधि दुर्लभ है। बीती रातें लौटकर नही आती। मानवजीवन दुबारा प्राप्त करना सरल नही है।

आयु क्षण-क्षण मे क्षीण होती जा रही है। यदि यह समाप्त हो गई और धर्माचरण न किया तो मानवजीवन के लक्ष्य की सिद्धि होना असभव है। क्योकि नर-जन्म पाकर भी जिन्होने धर्म आचरण नही किया, और आत्मा को निर्मल नही बना पाया, उन्हे पुन दीर्घ तक ससार मे भ्रमण करना पडेगा।

बडे दु ख की बात है कि मनुष्य अपने वर्तमान का तो ध्यान रखता है किन्तु भविष्य की ओर अत्यन्त उपेक्षा का भाव लिये रहता है। अनेक प्रकार की कामनाओ और सकल्पो के जाल मे फँसा हुआ 'मैं' और 'मेरी' की पूर्ति मे लगा रहता है। किन्तु एक तरफ मनुष्य अपने सकल्पो की सतुष्टि मे रत रहता है और दूसरी तरफ मृत्यु जीवन के क्षणो को बटोरती रहती है। वह इस बात की परवाह नही करती कि मनुष्य के सकल्प पूरे हुए हैं या नही। परिणाम स्वरूप आयु का अत आ जाता है किन्तु सकल्पो की समाप्ति नही हो पाती। अत मे मनुष्य अपने अधूरे सकल्पो को लेकर इस लोक से प्रस्थान कर जाता है।

उसके बाद कौन जानता है कि आगामी भव मनुष्य का ही भव होगा ? और होना सम्भव भी कहाँ होगा जबकि मनुष्य अपने जीवन को कामनाओ की पूर्ति करने मे बिना धर्माचरण किये ही बिता देगा। इसीलिये मनुष्य को सावधान करते हुए कहते हैं —

> पायो है मनुष्य देह अवसर बीत्यो जात,
> ऐसी देह कहो कहा बार-बार पाइये ?
> भूलत है बावरे ! तू अब के सियानो होय,
> रतन अमोल यह काहे को ठगाइये ?

सबसे बड़ी भूल अधिकाश मनुष्यो की यह है कि वे धर्माचरण को वृद्धावस्था का कार्य समझते हैं। वे सोचते हैं कि युवावस्था मे आनन्द का उपभोग और कुटुम्ब-परिवार का पालन-पोषण कर लें, बुढापे मे धर्मध्यान कर लेंगे। ऐसे व्यक्ति महान् धोखे मे रहते हैं। क्या कोई निश्चयपूर्वक कह

सकता है कि वृद्धावस्था आएगी ही ? और कदाचित् आ भी जाएगी तो क्या शरीर और इन्द्रियो में इतनी शक्ति रहेगी ही कि वह अपने मन के माफिक क्रियाएँ कर सकेगा ?

वृद्धावस्था अर्ध-मृतक की-सी अवस्था होती है। नाना प्रकार की पीडाएँ और व्याधियाँ मनुष्य को घेर लेती है। जिन के कारण चित्त मे समाधि और शाति नही रह पाती। ऐसी दयनीय और कष्टकर अवस्था मे विशिष्ट धर्माचरण करना सभव नही होता। अतएव मनुष्य को क्षण भर का भी प्रमाद किये विना, अप्रमत्त रहकर सयम और साधना का अनुष्ठान करते हुए नर-जन्म सार्थक बनाना चाहिये। शुभ कार्य के लिये कल की राह देखना गलत है। कबीर का यह दोहा आपको याद होगा :—

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल मे परले होयगी, बहुरि करैगो कब ?

आज के मेरे कथन का साराश यही है बधुओ ! कि मनुष्य को अपने जीवन का महत्त्व समझते हुए इसका सही उपयोग करना चाहिये। जो व्यक्ति अपने मन और इन्द्रियो पर सयम प्राप्त कर लेता है, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का यथाशक्ति पालन करता है, स्वाध्याय, ध्यान, आत्मचिंतन आदि मे तल्लीन रहता है, यतनापूर्वक चलना, बोलना, खाना आदि समस्त क्रियाएँ करता है, यथायोग्य साधना और तपश्चर्या करता है, तथा अत करण मे दिव्य भावनाएँ लिये हुए स्वय सन्मार्ग पर चलता है और दूसरो के लिये भी आदर्श रूप बन जाता है, वही नर वर अपने अनन्त पुण्य के बल से प्राप्त हुए मानव-जीवन को सार्थक बना सकता है। वही समस्त कर्मों का क्षय करके मुक्ति का अधिकारी बनता है। कहा भी है —

है मानव-जीवन सफल उसी नर-वर का,
जिसने सोखा जल सकल कर्म-सागर का।
अति पुण्यधाम महिमानिधान जग जाना,
कर कर्म निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना ॥

जन-प्रियता

बन्धुओं ! पिछले दिनो मे हमने जीवन की क्षणभगुरता, तथा उसकी सार्थकता पर विचार किया था। आज हम सफल जीवन की एक कसौटी के विषय मे विचार करेंगे। वह कसौटी है—जनप्रियता।

प्रत्येक मनुष्य के दो रूप होते हैं—आभ्यतर और बाह्य। अपने बाह्य रूप के द्वारा वह इस लोक को बनाता है और आतरिक रूप से परलोक को। दूसरे शब्दो मे, अपनी आभ्यन्तर विशेषताओं के द्वारा मानव आध्यात्मिक उन्नति करता है और एक दिन जन्म मरण के दु खो से मुक्त होकर 'मोक्ष' प्राप्त करता है। बाह्य गुणो के द्वारा लोक-व्यवहार मे सफलता प्राप्त करके जन-प्रिय बन जाता है।

मनुष्य को परलोक सुधारने का प्रयत्न करना आवश्यक है किन्तु साथ ही इस लोक को सुधारने का भी प्रयत्न करना पडता है। मनुष्य अपने आप मे कितना ही साधनसम्पन्न या परिपूर्ण क्यो न हो, उसे ससार के अन्य मनुष्यो से सपर्क बनाये रखना अनिवार्य होता है। अपने सद्गुणो से तथा सदाचरण से मानव लोक-प्रिय बनता है। लोक-प्रिय बनने के लिये भी उसे कदम-कदम पर सावधानी बरतनी पडती है। अपने व्यवहार को सुन्दर और आचरण को जन-साधारण की भलाई मे युक्त बनाना पडता है। आध्यात्मिक जीवन की सफलता जिस प्रकार मुक्ति प्राप्त करने मे है उसी प्रकार भौतिक जीवन की सफलता लोकप्रियता प्राप्त करने मे मानी जाती है।

मनुष्य को अपना व्यवहार इतना सुन्दर और व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली बनाना चाहिये कि अन्य लोग उसके सपर्क मे आने को इच्छुक रहे और उसको अपना हितैषी समझे। स्वार्थी और कपटी व्यक्तियो का ससर्ग किसी को भी अच्छा नही लगता और ऐसे व्यक्तियो का जीवन ससार मे स्पृहणीय नही माना जा सकता। दुर्जन व्यक्ति के द्वारा कभी किसी का भला नही हो सकता। उसका स्वभाव ही दूसरो को कष्ट और दु ख पहुँचाना होता है।

इसीलिये कहा है —

दुर्जन परिहर्तव्यो विद्ययालंकृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषित सर्प किमसौ न भयकर ॥

अर्थात् विद्या से विभूषित भी दुर्जन का परित्याग करना ही उचित है। मणि धारण करने वाला सर्प क्या भयकर नही होता ?

आशय यही है कि दुष्ट व्यक्ति चाहे कितना भी विद्वान अथवा वैभव-सम्पन्न क्यो न हो, उसका समर्ग करना हानिकारक ही होता है। वह न कभी अपना भला कर सकता है और न दूसरो का ही। अपनी कुप्रवृत्तियो के कारण कालान्तर मे उसे भी दुःख भोगना पडता है और उसके सम्पर्क मे आने वाले व्यक्तियो को भी।

जगल मे बास का पेड उग जाता है तो वह अन्य पेडो के लिए भी भय का कारण बन जाता है। कभी आपस मे रगड खाकर वह अग्नि उत्पन्न कर देता है। परिणाम यह होता है कि वह स्वय तो जलता ही है, साथ मे वन के अन्य अनेक वृक्षो को भी जलाकर भस्म कर देता है। कभी-कभी तो पूरे जगल के जगल ही नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये राजस्थानी भाषा मे कहा जाता है —

जबै बास वन ऊपनो धूजी सब वन राय।
कुल खायण ऊँचो वढ्यो देसी लाय (आग) लगाय ॥

अर्थात् – बास के वृक्ष को उगा हुआ देखकर समस्त वनराजि कॉप उठी और विचार करने लगी कि यह कुल का नाश करने वाला वढ रहा है। किसी दिन आग लगाकर हम सबको भस्म कर देगा।

कवि अपनी भाषा मे कहता है - वन मे जब चदन का वृक्ष उगता है तो सारा वन हर्षित हो जाता है, यह विचार कर कि चदन की सुगन्ध हमे भी सुवासित कर देगी और हमारा मूल्य वढ जाएगा। लोग हमे भी चदन समझेंगे।

जब चन्दन वन ऊपनो हरखी सब वनराय।
सुहगा से मु हगा किया अपनी बास (गध) लगाय ॥

तो, दुर्जन व्यक्ति बास की तरह जहाँ भी होते हैं वहाँ के निवासियो का अहित करते हैं और सज्जन व्यक्ति जहाँ भी जाते हैं सबका भला करते हुए आस-पास के वातावरण को प्रसन्नतापूर्ण बना देते हैं। सज्जन व्यक्ति ही

जनप्रिय होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति उनके सम्पर्क का इच्छुक होता है, और सम्पर्क करके प्रमोद प्राप्त करता है। उनके द्वारा कभी किसी का अहित नही होता। यही नही, वह अपना अपकार करने वाले का भी उपकार करते है।

परम प्रतापी क्षत्रिय नरेश विश्वामित्र राजर्षि तो थे ही, ब्रह्मर्षि भी बनना चाहते थे। लेकिन ब्रह्मर्षि की पदवी उन्हे तभी मिल सकती थी जब महर्षि वशिष्ठ उन्हे महर्षि मान लेते।

विश्वामित्र ने घोर तपस्या की, किन्तु वशिष्ठ उन्हे राजर्षि ही कहते रहे। इसपर विश्वामित्र बडे कुपित हुए और उन्होने वशिष्ठ के समस्त पुत्रो की हत्या करवा दी। सब कुछ देखते हुए भी महर्षि वशिष्ठ बिलकुल शात रहे। अन्त मे विश्वामित्र ने वशिष्ठ जी की भी हत्या करने का सकल्प किया और वे एक दिन अर्द्ध रात्रि को उनके आश्रम मे पहुँचे।

महर्षि वशिष्ठ अपनी धर्मपत्नी अरुन्धती के साथ कुटिया के बाहर वेदिका पर आसीन थे। पूर्णिमा की निर्मल और स्वच्छ चाँदनी रात थी। अरुन्धती ने कहा—'कितनी उज्ज्वल और पवित्र चाँदनी है!'

महर्षि वशिष्ठ सोल्लास बोले—हाँ, आज की चाँदनी उसी प्रकार उजली है, जैसे विश्वामित्र की तपस्या का तेज।

वशिष्ठ की हत्या करने के लिये आए हुए विश्वामित्र पास ही वृक्षो के झुरमुट मे छिपे हुए अवसर की प्रतीक्षा मे थे। उन्होने वशिष्ठ के शब्दो को सुना। सुनते ही चौंक पडे और विचारने लगे —"पुत्रो की हत्या करने वाले अपने शत्रु की भी ये अपनी पत्नी के सामने प्रशसा कर रहे है! और मैं नर-पिशाच इनके पुत्रो का वध करके इनको भी मारने का सकल्प किये छिपा हूँ।"

महर्षि वशिष्ठ के हृदय की उदारता और निष्पापता ने विश्वामित्र के अन्तरग को बदल दिया। उन्होने अपने हथियार फैंक दिये और दौडकर वशिष्ठ के चरणो मे गिर पडे। अत्यन्त पश्चात्ताप से बोले —मुझ अधम को क्षमा करें, मैं महापापी हूँ।

महर्षि वशिष्ठ वेदी पर से कूद पडे और उन्होने अपने चरणो मे पडे हुए विश्वामित्र को उठाकर हृदय से लगाते हुए कहा—'ब्रह्मर्षि विश्वामित्र!'

बधुओ! ऐसे उदार तथा निर्मल हृदय वाले व्यक्ति ही ससार को प्रिय लगते है। और चन्दन के वृक्ष की सुगन्ध की तरह उनकी कीर्ति चारो

ओर स्वय फैल जाती है। उनके ससर्ग मे आने वाला महान् से महान् पापी भी साधु पुरुष बन जाता है और मानव सच्ची मानवता को प्राप्त कर लेता है। एक विद्वान का कथन है :—

सत कष्ट सहि आपु ही, सुखी करैं जु समीप।
आप जरैं तऊ और को, करैं उजेरो दीप॥

जिस प्रकार दीपक स्वय जलकर भी औरो को प्रकाश देता है उसी प्रकार सज्जन व्यक्ति स्वय कष्ट पाकर भी दूसरो को सुखी बनाने के प्रयत्न मे रत रहता है। यही उसकी जन-प्रियता का रहस्य है। जो व्यक्ति सभी का प्रिय बनना चाहता है उसमे अनेक गुण होने चाहिये। अपने गुणो के द्वारा ही मनुष्य सबका प्रिय-पात्र बनता है। ऊँचे आसन पर बैठने से, उच्च कुल मे जन्म लेने से अथवा ऊँचे-ऊँचे महल बनवाकर उनमे रहने मात्र से ही व्यक्ति किसी का आदर, सम्मान अथवा स्नेह प्राप्त नही कर सकता। चाणक्य ने कहा है —

गुणैरुत्तमता यान्ति नोच्चैरासनसस्थितै।
प्रासादशिखरस्थोऽपि काक किं गरुडायते॥

मनुष्य अपने गुणो से ही महान् बनता है, ऊँचे आसन पर बैठने से नही। महल के ऊँचे शिखर पर बैठने मात्र से ही कौआ गरुड नही बन सकता।

इसलिये मनुष्य अगर चाहता है कि वह सबका प्रिय बने तो उसे अपने स्वाभाविक तथा उच्च गुणो का विकास करना चाहिये। जीवन को उन्नत बनाने वाले महान गुणो मे से पहला गुण है मैत्री-भावना'

ससार के समस्त प्राणियो को अपना मित्र मानना सफल जीवन का प्रथम लक्षण है। जो मनुष्य सबको अपने ही समान तथा अपना बधु मानता है वह किसी का भी अपकार करने की भावना नही रख सकता। विश्व के समस्त प्राणियो से वह स्नेह रखता है और सबको अपना सुहृद समझकर उनके दु ख-कष्टो को दूर करने का प्रयत्न करता है। कहा भी है "न स सखा यो न ददाति सख्ये" [वह मित्र ही क्या जो अपने मित्र को सहायता नही देता।]

मित्रता का मूल यही है कि मनुष्य स्वय दूसरो के लिये जो करे उसे तो भूल जाए और दूसरो ने जो कुछ उसके लिये किया है उसे सदा याद रखे।

मित्रता ममार मे मून्यवान वस्तु है। अत इसका अविक-से-अविक विकाम मनुष्य को करना चाहिये। महापुम्प विश्व के प्रत्येक प्राणी को अपना मित्र मानते हैं और यही सूत्र उन्हे महान् वना देना है। 'सुकरात' का कथन है — सव लोग घोडे, कुत्ते, सम्पत्ति, मान, सम्मान इत्यादि की हवस करके उसको पाने के लिये परिश्रम करते हैं, परन्तु मुझे किसी मित्र का समागम का लाभ होने से जितना सतोप होगा उतना उन सव चीजो के मिलकर प्राप्त होने पर भी नहीं होगा।"

सच्चा मित्र, मित्र के दुख व कष्ट मे कल्पवृक्ष के समान सिद्ध होता है। जव परिस्थितिया प्रतिकूल हो जाती है, मस्तक पर सकटो की भयानक छाया मडराने लगती है, उस समय मानव व्यथित होकर अपने सहायक को खोजता है, और वह सहायक मित्र ही वन सकता है। मित्र की सहायता, सहानुभूति तथा सान्त्वनापूर्ण वचन ऐसे समय मे वरदान बन जाते हैं और मनुष्य मे विपत्ति के समुद्र को पार कर जाने का हौसला पैदा हो जाता है।

कई सौ वर्ष पूर्व इगलैंड के प्रसिद्ध वेस्ट-मिनिस्टर स्कूल मे निकोलस तथा वेक नामक दो वालक पढते थे। वेक अत्यन्त सरल, सच्चा और मेधावी वालक था। इसके विपरीत निकोलम शैतान और उच्छृखल था। एक दिन क्लास मे ऊधम मचाते हुए निकोलम मे दीवार पर लगा हुआ वृहत् शीशा टूट गया।

कुछ समय पश्चात् शिक्षक आए और टूटे हुए शीशे को देखकर आग ववूला हो गए। उन्होने तोडनेवाले का नाम पूछा। कक्षा मे सन्नाटा छा गया। कोई कुछ नही वोला। तव शिक्षक ने एक-एक से पूछना शुरू किया। निकोलस की भी वारी आई तो उसने डर के मारे साफ इनकार कर दिया। वेक सवमे अन्त मे था। उसने देखा कि सव छात्रो के साथ-साथ निकोलस ने भी अपराध नामजूर कर दिया है। अगर मैं भी अस्वीकार करूंगा तो मास्टर साहव पूरी कक्षा को सजा देंगे और किसी ने निकोलस का नाम ले दिया तो आज उसकी वडी दुर्दशा हो जाएगी। कुछ मोच-विचार कर उसने शीशा तोडने का अपराध स्वय अपने ऊपर ओढ लिया।

शिक्षक ने क्रोध में वेक को मारना शुरु किया। मार के कारण निरपराध वेक का शरीर नीला पड गया। जगह-जगह मे चमडी छिल गई। किन्तु उसके चेहरे पर वही दृढता और मुसकान वनी रही। देखने वाले मभी छात्र कांप गए, निकोलस तो पानी-पानी हो गया।

छुट्टी होते ही निकोलस रोता हुआ वेक के पास गया और बडी कठिनाई से बोला—मित्र वेक ! तुम्हारे इस कार्य ने मेरी दुष्ट आत्मा मे एक नई ज्योति पैदा कर दी है। तुम्हारा मुझ पर किया यह अहसान मैं जीवन भर नही भूलूंगा।

चालीस वर्ष पश्चात् जब इगलैंड मे क्रामवेल का शासन था, निकोलस न्यायधीश बन चुका था। उस समय राजतन्त्र तथा प्रजातन्त्रवादियो मे मुठ-भेड हो रही थी। राजतन्त्रवादियो के पैर उखड चुके थे और वे जगह-जगह पराजित हो रहे थे। 'वेक' राजतन्त्रवादी सेना मे नायक था। वह भी पराजित हुआ और अपने साथियो के साथ कैद होकर एकजिस्टर भेज दिया गया। एकजिस्टर मे उसका बचपन का साथी निकोलस न्यायाधीश था।

क्रामवेल का आदेश था कि राजतन्त्रवादियो को मृत्युदड दिया जाय। न्यायाधीश निकोलस के सामने एक-एक बदी उपस्थित किया गया। निकोलस ने सभी को मृत्यु दड देना शुरू किया। जब कर्नल वेक उसके सामने लाया गया तो वह अवाक् रह गया। अपने बचपन के मित्र को, जिसने उसके बदले चुपचाप स्वय ही मार खाई थी, उसने पहचान लिया। किन्तु उस समय उसके सामने कर्तव्य की भी पुकार थी। अत निर्णय देते हुए वह बोला—सेनानायक वेक को अपने साथियो सहित चार दिन के पश्चात् मृत्यु-दड दिया जाय।

तत्पश्चात् निकोलस न्याय-मच से उठकर अपने कमरे के भीतर गया। उसकी आत्मा व्याकुल, और हृदय उन्मत्त की भाँति हो रहा था। उसी क्षण बिना खाये-पीये उसने आदेश देकर एकजिस्टर मे जो सबसे तेज़ घोडा था वह मगवाया और उस पर सवार होकर हवा मे बातें करने लगा। निकोलस को इस प्रकार जाते देखकर लोग चकित हो गए किन्तु निकोलस बिना किसी की परवाह किये लन्दन के रास्ते पर भागा जा रहा था। वह अपने मित्र को किसी भी मूल्य पर बचाना चाहता था।

दो रात और एक दिन वह घोडे की पीठ पर ही बैठा भागता रहा, क्योकि उस समय रेलो का प्रचार नही हुआ था। अन्त मे तीसरे दिन वह धूल और कीचड मे लथा हुआ क्रामवेल के सामने पहुँच गया। क्रामवेल उसे देखकर अवाक् रह गया। महान् आश्चर्य से बोला—कौन, न्यायधीश निकोलस ? यहाँ इस समय ऐसी दशा मे ??

निकोलस ने हाँफते हुए कहा—जी हाँ, आज मैं आपकी सहायता

चाहता हूँ अपने मित्र का ऋण चुकाने के लिये। और उसने सारी कहानी क्रामवेल को सुना दी। अन्त मे कहा सर ! यदि वेक ने शीशा फोडने का अपराध अपने ऊपर न लिया होता तो मेरे हृदय मे सत्य की ज्योति कभी न जलती। वेक के कारण ही आज मैं इस पदवी पर न्याय के मच पर पहुँचा हूँ। अपने उसी प्राण-प्रिय मित्र के लिये मैं आपसे क्षमा का दान चाहता हूँ। अगर आप दया न करेंगे तो दो दिन बाद निकोलस और वेक दोनो ही इस ससार से मिट जाएँगे।

यद्यपि क्रामवेल बडा कठोर था, उसे अपने विरोधियो के प्रति रच-मात्र भी दया नही थी। किन्तु निकोलस और वेक की मित्रता की कहानी ने उसकी आखो मे आंसू ला दिया और उसने उसी समय क्षमा दान का पत्र लिखकर निकोलस को देते हुए कहा—

'आखिर मैं भी मनुष्य हूँ निकोलस ! ले जाओ यह क्षमा पत्र। ईश्वर तुम्हारी मित्रता अखंड बनाए रखे।' निकोलस खुशी के मारे पागल हो गया और क्रामवेल को अभिवादन करके उनका आभार मानता हुआ उसी समय लौट पडा। एक्जिम्टर आकर उसने जेलखाने की कोठरिया खोलना शुरू किया, और वेक को पाते ही क्षमा-पत्र देकर उसे अपनी भुजाओ मे बाँध लिया। रुधे हुए गले से बोला – क्या तुम मुझे भूल गए मित्र ?

वेक ने उसी स्वर मे जवाब दिया—तुम भी कभी भुलाए जानेवाले हो निकोलस ? और दोनो मित्रो की आँखो से खुशी के आंसू बहने लगे।

मित्रता का यह एक सुन्दर उदाहरण है। ऐसे मित्र मिल जायँ तो समझना चाहिये कि कुबेर का खजाना ही मिल गया। वेक और निकोलस के समान मित्र ससार के लिये आदर्श बन जाते है। सैकडो वर्षो तक दुनिया उन्हे स्मरण करती है। वे सिर्फ एक दूसरे के ही नही वरन समग्र ससार के प्रिय-पात्र बन जाते है। सच्ची मित्रता प्राणो का उत्सर्ग करके भी निभाई जाती है। सुकरात का कथन था कि "मित्रता करने मे शीघ्रता मत करो किन्तु करो तो उसे अन्त तक निभाओ। क्योंकि—

> अगनि आंच सहना सुगम, सुगम खडग की धार।
> नेह निभावन एक रस, महा कठिन व्योहार॥
>
> —कबीर

मित्रता को अन्त तक एक रूप मे निभाना हँसी-खेल नही है। इसके लिये मनुष्य को कभी-कभी अपना सर्वस्व भी खोना पडता है। ऐसी मित्रता

ही उसे ससार के व्यक्तियो का सम्मान-पात्र बनाती है। जन-प्रिय बनने के लिये मनुष्य को आदर्श मित्र बनना आवश्यक है। महान् व्यक्ति मित्र की अमीरी अथवा गरीबी की परवाह नहीं करता। और जो मित्र के दुर्दिन मे किनारा काट जाता है वह मित्र कहलाने का अधिकारी भी नही बनता। एक पाश्चात्य विद्वान् चिली ने कहा है —

"Be more prompt to go to a friend in adversity than in prosperty" अर्थात् — अच्छे दिनो की अपेक्षा मुसीबत के दिनो मे मित्र के पास जाने के लिये अधिक उद्यत रहो।

सुदामा अत्यन्त निर्धन ब्राह्मण थे किन्तु श्री कृष्ण ने उनके साथ जो मित्रता निभाई वह आज भी जन-जन की जबान पर है। कृष्ण आदर्श मित्र के रूप मे भी अजर अमर हो गए हैं।

जनप्रिय बनने का दूसरा सूत्र है 'दानशीलता।' दानी पुरुष लोगो के हृदय मे अपना उच्च स्थान बना लेता है। दान का जीवन मे बडा भारी महत्त्व है। यह इस लोक मे तो यश की प्राप्ति कराता ही है, परलोक मे भी उत्तम फल देता है। इसीलिये अथर्ववेद मे भी कहा है —

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सकिर

अर्थात् सैकडो हाथो से इकट्ठा करो और हजारो हाथो से बाँटो।

वास्तव मे धन-दौलत से आत्मा का कुछ भी कल्याण नही होता। उलटे यक्ष की तरह अहर्निशि उसकी सुरक्षा मे सारा जीवन व्यतीत कर देने पर भी अत मे एक पाई भी साथ नही जाती। सारी दौलत आँखें मुदते ही पराई हो जाती है। धन की बदौलत व्यक्ति सुख पाना चाहता है किन्तु उसे न इस लोक मे सुख मिलता है और न परलोक मे ही। निन्यानवे के फेर मे पडा हुआ व्यक्ति परिग्रहसग्रह का पाप करके भी रुकता नही, वरन् आगे भी भयकर पाप करता चला जाता है। वह नये-नये अत्याचारो को जन्म देता है, लाखो मनुष्यो को शीत से ठिठुरते हुए और भूख से मरते हुए देखता है। परिग्रह बुद्धि से क्रूरता का भाव बढता है और उसे नियन्त्रित न किया जाय तो मनुष्य पिशाच बन जाता है।

इस लोक मे भी कभी धन के चोरी चले जाने से, व्यापार मे धक्का लगने से, दिवाला निकलने से अथवा किसी के द्वारा धोखेबाजी से अपहरण कर लेने से धनवान् व्यक्ति सिर पर हाथ धर कर रोता है। और अगर ये स्थितिया न भी आएँ तो किसी भी वक्त यमराज के निमन्त्रण मे उसे सब कुछ

यही छोडकर चल देना पडता है । उस वक्त एक कौडी भी उसके काम नही आती । रीते हाथो ही यहाँ से प्रयाण करना पडता है। इसलिये कवि माया के लोभी पुरुषो को चेतावनी देते है —

माया जोरि जोरि नर राखत जतन करि,
कहत है एक दिन मेरे काम आये हैं।
तोहे तो मरत कछु वार नहि लागे शठ,
देखत ही देखत ववूला सो विलाए है।
धन तो घर्यो ही रहे चलत न कौडी गहे,
रीते हाथ आयो जैसे तैसे रीते जाए है।
कर ले सुकृत यह विरिया न आवे फिर,
मूरख ! चलत वेर पाछे पछताए है।

कहा गया है—हे मानव ! धन और तन दोनो ही क्षणिक है। पानी के वुलवुले जैसा यह जीवन तो किसी भी क्षण समाप्त हो जाएगा और जोडी हुई माया यही पडी रह जाएगी। अतः इस सपत्ति के द्वारा कुछ सुकृत कर ले ताकि फिर पछताना न पडे। क्योकि यह समय, ऐसा नर-जन्म वार वार नही मिलता।

वास्तव मे धन का सही उपयोग यही है कि उसके द्वारा अधिक से अधिक व्यक्तियो की आवश्यकताओ को पूरा किया जाय। भूखे को अन्न और निर्वस्त्र को वस्त्र दिये जायें। यही दान है, जिसके द्वारा मनुष्य लाखो व्यक्तियो के शुभाशीष प्राप्त कर सकता है और उनका प्रिय वन सकता है।

किन्तु दान देने के साथ भावना भी उदार होनी चाहिये। अगर कोई व्यक्ति अपना यश फैलाने के लिये अथवा अहकार की तुष्टि की दृष्टि से ही दान करता है तो उसके दान का कोई महत्त्व नही। लालच के वशीभूत होकर वेमन और तिरस्कार पूर्वक दिया हुआ दान दान नही है। क्योकि जिसकी जैसी भावना होती है उसको उसके समान ही सिद्धि प्राप्त होती है :—

"यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी।"

एक वार एक दानी और परोपकारी व्यक्ति के पास एक फरिश्ता आया और वोला मैं उन व्यक्तियो की सूची वना रहा हू जो सच्चे दिल से खुदा की वदगी करते हैं। आप वताइये कि आपका नाम इस सूची मे लिखूं या नही ?

दानी व्यक्ति ने कहा—भाई ! मैं तो खुदा के वन्दो की सहायता

करता हूँ, खुदा की वन्दगी नही। हाँ, अगर खुदा के बन्दो की सेवा करनेवालो की कोई सूची आपके पास हो तो उसमे मेरा नाम लिख लीजिये।

फरिश्ता चला गया। किन्तु जब वह व्यक्ति मरकर पाप-पुण्य का लेखा-जोखा करने वाले फरिश्ते के समीप पहुँचा तो उसने देखा कि उसका नाम खुदा की वदगी करने वालो की सूची मे सर्वप्रथम दर्ज किया हुआ है।

तात्पर्य यही है कि दान और सेवा भी किसी नीच भावना से नही वरन् करुणा और आत्मीयता की भावना से करना चाहिये। अहकार और गर्व की भावना से दिया हुआ करोडो रुपये का दान भी एक गरीब की करुणा-पूर्वक दी हुई आधी रोटी की बरावरी नही कर सकता। एक रोटी मे से आधी रोटी देने वाला व्यक्ति लेने वाले के हृदय में स्थान बना लेता है पर नाम कमाने की इच्छा से दिया हुआ करोडो का दान भी लोगो के हृदय मे अपना स्थान नही बना पाता। इसलिये अगर मनुष्य ससार मे सभी का प्रिय बनना चाहता है तो उसे, जो कुछ उसके पास है, उसका दान अत्यत स्नेह तथा करुणा की भावना से जरूरतमदो को देना चाहिये। धन की सार्थकता देने मे ही है इकठ्ठा करने मे नही। कवीर ने कहा भी है -

जो जल बाढे नाव मे, घर मे बाढे दाम।
दोऊ हाथ उलीचिये, यही सयानो काम॥

'ईमानदारी' जन-प्रिय बनने का तीसरा गुण है। मनुष्य की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता ईमानदारी पर ही निर्भर होती है। शेक्सपियर ने कहा है -

'No legacy is so rich as honesty.' (कोई भी उत्तरदान ईमान-दारी के सदृश बहुमूल्य नही है।)

ईमानदार व्यक्ति के सामने कितने भी प्रलोभन क्यो न आएँ, वह चट्टान की तरह दृढ रहता है। ईमानदारी की आवश्यकता जीवन मे कदम कदम पर रहती है। ईमान मे इतनी दृढ शक्ति होती है कि कोई भी व्यक्ति ईमानदार व्यक्ति की अवहेलना नही कर सकता। उसे सदा ही प्रत्येक कार्य मे विजय प्राप्त होती है। बडे से बडा मेधावी पुरुष भी ईमानदार मनुष्य का मुकाबिला नही कर सकता। उसका यश हवा की तरह चारो ओर फैल जाता है और प्रत्येक मनुष्य आँख मूदकर उसका विश्वास कर लेता है।

एक बार विलायत के प्रसिद्ध वक्ता और पार्लियामेण्ट के सभासद मिस्टर फोक्स रुपये गिन रहे थे। पास ही जिस व्यक्ति को रुपये देने थे उसके

नाम लिखा हुआ एक पत्र रखा था। उसी समय एक दूकानदार ने आकर उनसे अपने रुपये मागे और कहा कि मुझे रुपये इसी समय चाहिये, एक साहूकार को देने है।

मिस्टर फोक्स बोले—भाई तुम्हारे रुपये मैं एक महीने बाद दूंगा क्योकि ये रुपये मुझे सेरिडन को देने है। सेरिडन से ये रुपये मैंने बिना लिखा-पढी के ही लिये थे। यदि अकस्मात् मेरी मृत्यु हो जाए तो उस बेचारे के पास प्रमाण-स्वरूप एक चिट्ठी भी मेरे हाथ की नही है। इसलिये सबसे पहले मै उसका ऋण चुकाऊँगा।

दूकानदार फोक्स की भावना को समझ गया। इसका उसके ऊपर बडा अच्छा प्रभाव पडा। परिणाम स्वरूप उसने फोक्स के साथ कोई वाद-विवाद नही किया। यहाँ तक कि उसको फोक्स पर इतना विश्वास हो गया कि उसने उनके हाथ की लिखी हुई चिट्ठी भी उसी क्षण फाड डाली और कहा—

मैंने भी आपके लिखे कागज के टुकडे टुकडे कर दिये है। मेरे पास भी अब दावा करने का कोई प्रमाण नही रहा। अब आप अपनी सुविधा से रकम भेज दीजियेगा।

दूकानदार के सौजन्य और विश्वास से मिस्टर फोक्स भी अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होने प्रसन्नतापूर्वक दूकानदार से कहा—"यह लो, तुम ये ही रुपये ले जाओ। तुम्हारा मेरे ऊपर विश्वास के अतिरिक्त ऋण भी पुराना है और तुम्हे इस समय पैसे की आवश्यकता भी है। मै सेरिडन को कुछ समय पश्चात् रुपये भेज दूंगा।

इस उदाहरण से यह साबित हो जाता है कि प्रामाणिक व्यक्ति का कितना प्रभाव दूसरो पर पडता है। ईमानदारी की आवश्यकता जीवन की प्रत्येक दिशा मे होती है। माता-पिता के प्रति, गुरुओ के प्रति, मित्रो के प्रति, सरकार के प्रति, देश के प्रति तथा धर्म के प्रति ईमानदारी होना चाहिये। किन्तु इन सबके अलावा सबसे अधिक ईमानदारी की आवश्यकता वहाँ पडती है जहाँ धन-सपत्ति विषयक व्यवहार होता है। अधिक व्याज लेने की, नफा खाने की, असहाय व्यक्तियो की सम्पत्ति दबाने की और धोखेबाजी करने की प्रवृत्ति बेईमानी है, अप्रामाणिकता है।

मनुष्य बेईमान व्यक्ति का विश्वास नही करते। वह तिरस्कार तथा

सदेह की निगाहो से देखा जाता है। और वेईमानी तथा धोखेवाजी मे किये हुए कर्मों के कारण परलोक मे भी वह सुखी नही हो पाता। सक्षेप मे यही, कि वेईमान व्यक्ति के दोनो लोक विगड जाते है। वास्तव मे विचार किया जाय तो मालूम होता है कि जो व्यक्ति दूसरो को धोखा देने की कोशिश करता है वह अपने आप को ही धोखा देता है।

ससार मे अनेक पुरुष ऐसे हैं जो धन को समस्त शक्तियो का निधान मानते हैं और उसका सचय करते के लिये वेईमानी तथा अन्य अनेक भयकर पाप करने है। वे सोचते हैं कि धन से क्या नही हो सकता ? धन उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य हो जाता है। वडे वडे विद्वान् पुरुष भी कभी कभी धन के लोभ मे मतिहीन हो जाते हैं और अकरणीय कार्य करने लगते है। किसी ने सत्य ही कहा है —

जनक सर्वदोपाणा, गुणग्रसनराक्षस।
कन्दो व्यसनवल्लीना, लोभ सर्वार्थवाधक ॥

अर्थात् धन का लोभ समस्त दोपो का जनक है। ससार मे कोई भी वुराई और दुराचरण नही, जो पैसे के लिये न किया जाता हो। यह लोभ राक्षस की तरह समस्त गुणो का नाश कर देता है। समस्त विपत्तियो की जड और सभी अर्थों मे वाधा पहुँचाने वाला यही है।

धन के लोभी मनुष्य इन वातो को भूल जाते है और ईमान को ताक मे रखकर येन केन प्रकारेण धन को इकट्ठा करने मे लगे रहते है। लेकिन वह क्या काम आता है ? कुछ भी नही। पूर्वकृत अशुभ कर्मो के उदय से जब मनुष्य असह्य शारीरिक व्याधियो की पीडा भोगता है उस समय अनेक वार करोडो रुपये खर्च कर देने पर भी वेदना का शमन नही होता। मृत्यु-शय्या पर पडा हुआ व्यक्ति धन का सुमेरु खडा करके भी काल को जीत नही सकता। और मृत्यु के पश्चात् तो उसका क्या उपयोग हो सकता है, यह हम जानते ही हैं।

वैरी घर माहि तेरे, जानत सनेही मेरे।
दारा सुत वित्त (धन) तेरो खोसी खोसी खाए गे।
और हू कुटुम्बी लोग मुए चहे वाहर सो,
मीठी मीठी वात कह तोसो लिपटाए गे ॥

कवि ने एकदम खरी वात कह दी है। वह कहता है—जिन्हे तू अपना सनेही मान रहा है, वास्तव मे वे तेरे वैरी है। तेरी सम्पत्ति को छीन-छीन कर खा जाएँगे। तेरे दूसरे कुटुम्बी ऊपर से मीठी वातें कहते है, प्रेम से लिपटते है

मगर भीतर ही भीतर तेरी मृत्यु की कामना करते हैं। सोचते हैं—यह कब मरे और इसका धन हथिया ले।

तो बधुओ ! ऐसे धन के लिये जीवन भर बेईमानी और धोखेबाजी करना क्या मानव के लिये उपयुक्त है ? इसकी अपेक्षा ईमानदारी पूर्वक कम धन प्राप्त करके भी लोगो का विश्वासपात्र और प्रिय बनना क्या उचित नही है ? विवेकी पुरुषो को भली भाति समझना चाहिये कि धन परलोक में तो काम आता ही नही है वरन् इस लोक मे भी अवसर पडने पर सहायक नही होता। अगर होता तो अनादि काल से लेकर अब तक अनन्त चक्रवर्ती तथा अक्षय निधियो के स्वामी अपने समस्त ऐश्वर्य को लात मारकर क्यो चल देते? इसलिये प्रत्येक को चाहिये कि वह ईमानदारी और प्रामाणिकता से जन-जन का विश्वास और स्नेह प्राप्त करते हुए अनासक्त भाव से सासारिक यात्रा सम्पन्न करे।

जनप्रिय बनने के लिये चौथा गुण है 'सदाचरण'। सदाचरण मानव जीवन का ऐसा बहुमूल्य गुण है जिसके अभाव मे मनुष्य जीवन का कोई मूल्य ही नही रह जाता और मनुष्य कदम-कदम पर लाछित, अपमानित और तिरस्कृत होता रहता है। इसके विपरीत, सदाचरण के सौरभ से समन्वित पुरुष का यश चारो ओर फैलता है और वह सभी का प्रिय बनता है।

सदाचार मनुष्यता का ही दूसरा नाम है। मनुष्य की आकृति मात्र पा लेने से ही कोई 'मनुष्य' नहीं कहला सकता। मनुष्य वही माना जाता है जिसका आचरण मनुष्योचित हो। तलवार की कीमत उसकी म्यान से नही होती किन्तु उसकी धार से होती है। म्यान सुन्दर और कितनी भी कीमती क्यो न होतो, अगर तलवार मे पानी न हो तो वह व्यर्थ है। इसी प्रकार मनुष्य की आकृति कितनी भी सुन्दर और मोहक क्यो न हो अगर उसका आचरण सुन्दर न हो तो उसका मूल्य कुछ भी नही है। तलवार की धार और मनुष्य का सदाचरण दोनो ही सही मायने मे मूल्यवान होते हैं।

मनुष्य कितना भी विद्वान् और बुद्धिमान् क्यो न हो, अगर सदाचारी नही है तो उसका समस्त ज्ञान और बुद्धिवैभव वृथा है। जिस प्रकार फल न देने वाले वृक्ष मे कोई लाभ नही होता, उसी प्रकार उस ज्ञान से कोई लाभ नही होता जो मनुष्य के आचरण को उच्च नही बनाता। ऐसा ज्ञान सम्यक् ज्ञान नही कहलाता, मिथ्या ज्ञान माना जाता है। सच्चा विद्वान् वह नही है जिसने सस्कृत, प्राकृत, अग्रेजी और हिन्दी आदि सभी भाषाओ का ज्ञान

प्राप्त कर लिया हो, सभाओ मे अपने तर्कों से प्रतिवादियो को परास्त कर दिया हो और बाल की खाल निकालकर अपना सिक्का जमा लिया हो।

सत्य तपो ज्ञानमहिसता च,
विद्वत्प्रणामञ्च सुशीलता च।
एतानि यो धारयते स विद्वान्,
न केवल य. पठते स विद्वान् ॥

अर्थात्—सच्चा विद्वान् वह है जिसकी आत्मा मे सत्य रम गया हो, जो शक्ति के अनुसार तप कर रहा हो, जो ज्ञानवान् हो और विश्व के किसी भी प्राणी को अपने व्यवहार से कष्ट न पहुँचाता हो। सच्चा विद्वान् दूसरे विद्वानो का आदर करता है, उनके समक्ष नम्रता धारण करता है, और उन्हे नमस्कार करता है। ऐसा सदाचारी व्यक्ति ही वास्तव मे विद्वान् कहलाता है। सिर्फ विद्या प्राप्त कर लेने वाला और शास्त्रों को रट लेने वाला नही।

सदाचारी पुरुष हृदय की सहज प्रेरणा से प्रशस्त मार्ग पर चलता है। वह कभी जीवन-यात्रा मे ठोकर खाकर विषय कषायो के गढे मे नही गिरता। परिणाम यह होता है कि वह न केवल स्वय ऊँचा उठता है, किन्तु अपने ससर्ग मे आने वाले दूसरे लोगो को भी ऊँचा उठाता है। उसके सदाचार की महक कुटुम्ब मे, जाति मे और देश मे सर्वत्र फैल जाती है। उसकी प्रतिष्ठा एव गौरव मे वृद्धि होती रहती है। प्रत्येक व्यक्ति उससे स्नेह करता है और उसे अपना आत्मीय समझता है।

सदाचारी व्यक्ति का प्रभाव अन्य व्यक्तियो पर बडी तेजी से पडता है। यहाँ तक कि सदाचारी व्यक्ति अपनी जबान बिना हिलाए भी सैकडो मनुष्यो का सुधार कर सकता है जब कि आचरणहीन व्यक्ति के विद्वत्ता भरे लाखो उपदेशो का भी कुछ फल नही होता। सदाचारी व्यक्ति की शत्रु भी प्रशसा करते हैं।

सिकन्दर और पोरस का युद्ध हुआ। उस युद्ध मे सिकन्दर के प्रतिद्वन्द्वी पोरस को पकड लिया गया और उसे सिकन्दर के समक्ष उपस्थित किया गया।

सिकन्दर ने क्रोध-पूर्वक पोरस से कहा--बताओ, तुम्हारे साथ अब कैसा व्यवहार किया जाय ?

पोरस ने निर्भीकता पूर्वक उत्तर दिया—मेरे साथ आप वैसा ही व्यवहार कीजिये जैसा एक बादशाह को दूसरे बादशाह के साथ करना चाहिये।

पोरस का उत्तर सुनकर सिकन्दर स्तब्ध रह गया। वह पोरस के बुद्धिमत्तापूर्ण उत्तर एव साहस से अत्यत प्रभावित हुआ। उसी क्षण उसकी मनुष्यता जाग उठी और उसने पोरस को मुक्त कर दिया।

दूसरी ओर, जो पोरस भयकर सकटो के सामने तथा प्रतिकूल समय मे भी कभी शत्रु के सामने नही झुका था वह सिकन्दर के इस सद्व्यवहार से इतना प्रभावित हुआ कि सदा के लिये उसका मित्र बन गया।

वास्तव मे सदाचार का प्रभाव मनुष्य के अन्त करण को अत्यन्त शक्तिशाली बना देता है और इसीलिये इसकी महिमा सर्वत्र गाई जाती है। सदाचारी मनुष्य मरकर भी अमर बन जाता है। और यही वह चीज है जिसके कारण उसकी ख्याति सदा के लिये अविस्मरणीय हो जाती है। यह ऐसी बहुमूल्य सपत्ति है, जो कोई भी मनुष्य अपने वश के लिये और अपनी मातृभूमि के नवयुवको के लिये छोड सकता है।

सदाचार का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। मनुष्य की, जाति की, और देश की उन्नति सदाचारी व्यक्तियो पर ही निर्भर होती है। जिस प्रकार जल के अभाव मे पौधा पनप नही सकता, उसी प्रकार सदाचार के अभाव मे कोई भी व्यक्ति तथा समाज पनप नही सकता।

खेद की बात है कि सदाचार का महत्त्व आज के युग मे उतना नही रह गया। आज परिवार मे, स्कूलो मे, जाति मे समाज मे, और यहाँ तक कि देश के शासनचक्र मे भी अनैतिकता तथा उच्छृखलता व्याप्त हो गई है। सर्वत्र अनैतिकता, अकर्मण्यता और दुर्व्यवहार का वातावरण बन गया है। इसी दुख के कारण किसी कवि ने कहा है —

भगवान तेरी दुनिया मे इन्सान नहीं है।
मदिर भी है मसजिद भी है ईमान नहीं है॥
आपस मे यहाँ फूट है दिल सबके जुदा हैं।
दौलत जिन्हे मिल जाय वही लोग खुदा हैं॥
इतना भी नहीं सोचते हम कौन हैं क्या हैं?
इन्सान को इन्सान की पहचान नहीं है।

वास्तव मे ही अगर हमे स्वराज्य का लाभ उठाना है, देश मे पुनः राम-राज्य लाना है तो प्रत्येक मनुष्य को ज्ञानवान बनने के साथ आचरणवान् अवश्य बनना पडेगा। सदाचार के बिना न कोई अपना और न ही देश का उत्थान कर सकता है। जो पुरुष धर्म के अनुसार सदाचारपूर्वक अपना जीवन

व्यतीत करते है उसकी प्रशसा वे लोग भी करते है जिन्होंने उसे देखा तक नही है। इस तथ्य को समझकर विवेकशील पुरुष का कर्तव्य है कि वह सदाचरण को जीवन का सर्वोत्कृष्ट गुण मानकर उसका पालन करे। सदाचार के द्वारा मनुष्य अनेक लाभ प्राप्त कर सकता है। मनुजी ने भी कहा है —

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिता प्रजा।
आचाराद् धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥
दुराचारो हि पुरुषो, लोके भवति निन्दित।
दु खभागी च सतत, व्याधितोऽल्पायुरेव च॥

मनुस्मृति ४, १५६-७

अर्थात् सदाचार मे दीर्घायु की प्राप्ति होती है और सन्तान भी सदाचारी बनती है। आचार से ही अक्षय धन की प्राप्ति होती है तथा अलक्षणो से उत्पन्न होने वाले अरिष्ट नष्ट हो जाते हैं।

इसके विपरीत आचरणहीन व्यक्ति निन्दित, दुखो का भाजन, सर्वदा रोगी और अल्पायु वाला होता है। इसलिये दुराचार का त्याग करके सदाचार मे ही प्रवृत्ति करनी चाहिये। तभी वह सर्व-प्रिय और सर्वमान्य बन सकता है।

सदाचरण मनुष्य को महान् और सर्वत्र प्रेम का भाजन बनाता है। उसके बिना जीवन गधरहित पुष्प और स्वरहीन वीणा की तरह व्यर्थ बन जाता है।

बधुओ! आपने समझ लिया होगा कि मनुष्य का विश्व मे सभी का प्रिय बनने के लिये, 'मैत्री-भावना', 'दानशीलता', 'ईमानदारी' और 'सदाचरण' को अपनाने की कितनी आवश्यकता है। इन बहुमूल्य गुणो से रहित व्यक्ति ससार मे कभी भी सम्मान और स्नेह पाने का अधिकारी नही होता। जन-प्रिय बनने के लिये मनुष्य को अपना जीवन उच्च बनाना चाहिये तभी वह जन-मानस पर शासन कर सकता है और अपने इस लोक को तथा इसके बाद इतर लोक को भी सुखपूर्ण बना सकता है। क्योकि जो महान गुण मनुष्य को इस लोक मे जन-प्रिय बनाते है, वे ही गुण आत्मा को कल्याणकारी मुक्ति-पथ पर भी अग्रसर करते है।

सुख और दुख की खोज (१)

को लाभो गुणिसगम किमसुख,
प्राज्ञेतरै सगति. ।
का हानि समयच्युतिर्निपुणता,
का धर्मतत्त्वे रति ।
क शूरो विजितेन्द्रिय. प्रियतमा,
काऽनुव्रता कि धन ?
विद्या कि सुखमप्रवासगमन,
राज्य किमाज्ञाफलम् ।

बधुओ ! यह भर्तृहरि का वचन है। इसमे कुछ प्रश्न है, और साथ ही उनके सक्षेप मे दिये गए उत्तर भी है।

आज मैं इन्ही उत्तरो को कुछ विस्तारपूर्वक आपको समझाना चाहता हूँ। इस श्लोक मे प्रथम प्रश्न है—'को लाभो' ? अर्थात् ससार मे लाभ (प्राप्ति) क्या है ? उत्तर मे कहा गया है कि इस विराट् विश्व मे अगर कुछ लाभ है तो वह है गुणियो की सगति प्राप्त होना।

गुणवानो की सगति से मनुष्य स्वय गुणी बन जाता है। क्योकि गुणी व्यक्ति मे स्नेहशीलता, नम्रता, सहानुभूति, परोपकार आदि अनेक गुण होते है और इन गुणो को धारण करने वाले व्यक्तियो की सगति करने से मनुष्य इन सद्गुणो को शनै शनै अपना सकता है। स्नेह गुणी व्यक्तियो का सबसे महान् गुण है। इसी के द्वारा वे मानव मात्र को आत्मवत् मानते हैं और विश्व-मैत्री की भावना को कार्य रूप मे परिणत करते है। उसका प्रसार करते है।

स्नेह के स्थान पर जहाँ घृणा होती है वहाँ मनुष्य एक दूसरे को अविश्वास और शका की दृष्टि से देखते है और धीरे-धीरे उस भावना का इतना व्यापक प्रसार होने लगता है कि मानव मानव मे झगडता है और एक देश की दूसरे देश से मुठभेड हो जाती है। परिणाम स्वरूप रक्त की नदियाँ

वह जाती है। इसीलिये मनुष्य को ऐसे गुणियो का सगम करना चाहिये जिनके द्वारा घृणा और द्वेष का नाश होकर स्नेह की सरिता हृदय मे हिलोरें लेने लगे और अहकार के स्थान पर नम्रता का साम्राज्य स्थापित हो सके।

नम्रता भी महान् गुण है। नम्र व्यक्ति ही बुद्धिमान् होता है क्योकि वह सर्वप्रथम अपने अहकार का दमन करता है, और उसके पश्चात् दूसरो के अहकार का अपने ऊपर प्रभाव पडने से रोकता है। उसके बाद वह सहानुभूति के साथ अहकारी व्यक्ति के अहकार को नष्ट करने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार सदैव परोपकार मे रत रहता है। तभी भर्तृहरि ने कहा है कि गुणियो की सगति ही ससार मे प्राप्त होने वाला सबसे बडा लाभ है। कवि 'दीन' ने बडे सरल शब्दो मे सगति का असर बताया है। कहा है —

ज्ञान बढे गुणवान की सगति,
　　ध्यान बढे तपसी सग कीने।
मोह बढे परिवार की सगत,
　　लोभ बढे धन मे चित दीने॥
क्रोध बढे नर मूढ़ की सगत,
　　काम बढे तिरिया सग कीने।
बुद्धि विवेक विचार बढे,
　　कवि 'दीन' सुसज्जन के सग कीने।

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य जैसे व्यक्तियो की सगति करेगा, वैसे ही गुण उसके हृदय मे घर करेंगे। जैसे विद्वान् की सगति से ज्ञान की तथा तपस्वी की सगति से ध्यान की प्राप्ति होती है। उसी प्रकार परिवार की सगति से मोह, धन मे आसक्त रहने से लोभ, मूर्ख के सहवास से क्रोध और नारी के सहवास से काम की उत्पत्ति और वृद्धि होती है। किन्तु सज्जनों की सगति से बुद्धि, विवेकशीलता और हृदय मे पवित्रता का निवास होता जाता है। साराश यही है कि भली सगति का अत्यन्त शुभ और बुरी सगति का अत्यत अशुभ प्रभाव मनुष्य के हृदय और जीवन पर पडता है। ईसाइयो के धर्मग्रन्थ इजील मे भी कहा गया है —

"He that walketh with wise man shall be wise but a companion of fools shall be destroyed"

अर्थात् जो बुद्धिमान् के साथ चलेगा वह बुद्धिमान् बन जाएगा किन्तु जो मूर्खों का सङ्ग करेगा वह नाश को प्राप्त होगा।

सत्संगति प्राप्त हो जाए तो दुर्जन व्यक्ति भी निश्चयपूर्वक महान् बन जाता है और अपने जीवन को संपूर्ण रूप से बदल सकता है। किसी ने तो यहाँ तक कहा है —

असज्जन सज्जनसङ्गिसङ्गात्,
करोति दुस्साध्यमपीह लोके।
पुष्पाश्रया शम्भुजटाधिरुढा,
पिपीलिका चुम्वति चन्द्रबिम्वम् ॥

अर्थात् -असज्जन व्यक्ति भी सज्जनों की संगति में इस संसार में दुःसाध्य काम कर डालते हैं। कहते हैं कि फूलों के सहारे चींटी शंकर की जटा पर बैठकर उनके ललाट पर स्थित चन्द्रमा का स्पर्श करने योग्य बन जाती है।

आशय यह है कि क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी भी अगर सत्संगति में पहुँच जाए तो उसका जीवन बदल जाता है और वह नरक की ओर प्रयाण करते करते भी स्वर्ग की ओर उन्मुख हो जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि सज्जनों की संगति में तभी लाभ मिले जबकि उनका उपदेश सुना जाय। सज्जन व्यक्ति का तो प्रत्येक आचरण ही शिक्षाप्रद होता है। उनके सामीप्य में और उनकी अभ्यर्थना तथा सत्कारादि में भी मनुष्य के अनेक कर्मों की निर्जरा हो जाती है। शास्त्रों में बताया गया है -

एक बार राजा श्रेणिक भगवान् महावीर के समवसरण में पहुँचे। भगवान् का दिव्य रूप देखकर उनका हृदय आदर और श्रद्धा से परिपूर्ण हो गया। उन्होंने भगवान् महावीर की अत्यन्त श्रद्धापूर्वक तीन बार प्रदक्षिणा की और उन्हें वंदन किया। उसके पश्चात् गौतम इन्द्रभूति को भी वंदना-नमस्कार किया।

इतने में ही और भी अनेक संत वहाँ पधारे। श्रेणिक राजा ने सभी को अत्यन्त उल्लासपूर्वक वंदना की। राजा के हृदय में उस समय उल्लास समा नहीं रहा था। अतः उन्होंने आगे बढ़कर और भी संतों को नमस्कार किया। उसके पश्चात् वे आगे बढ़े तो देखा कि उनके परिवार के ही अनेक व्यक्ति यथा पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, बंधु बांधव आदि, जो कि पूर्व में दीक्षित हो चुके थे, साधुओं की उस मंडली में उपस्थित थे। राजा श्रेणिक से रहा नहीं गया, अतः उन सबको भी उन्होंने प्रदक्षिणा करते हुए वंदन कर लिया। किन्तु कुछ और आगे बढ़ने पर वे क्या देखते हैं कि उनके अनेक नौकर-चाकर

दास आदि भी साधु के रूप मे उपस्थित हैं। श्रेणिक के मन मे क्षण भर के लिये विचार आया—ये मेरे दास थे जो मेरे तनिक से दृष्टिपात से ही निहाल हो जाते थे और इंगित मात्र पर दौड पडते थे। क्या मै इन्हे भी वदन करूँ? पल भर मे ही उनके हृदय ने उत्तर दिया—वदना-नमस्कार इस समय दासो को नही किया जाना है, साधुओ का करना है। भूतकाल मे भले ही वे दास रहे हो। किन्तु आज तो वे मुनि होने के कारण पूज्य हैं।

यह विचार हृदय मे आते ही राजा ने उन सभी मुनियो को वदना करना प्रारम्भ कर दिया। बडे ही भक्तिभाव से प्रदक्षिणा तथा नमस्कार करते हुए वे और भी बचे हुए साधुओ को वदना करने के लिये आगे बढे। किन्तु उस समय तक वे थक चुके थे। महाराजा ही तो ठहरे! अत इतने परिश्रम से ही उनका शरीर अकड गया और वे विश्राम करने की दृष्टि से भगवान् महावीर के समक्ष जा बैठे। समीप ही गौतम स्वामी भी विराजमान थे।

राजा श्रेणिक को देखकर गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया—भगवन्! आज मगध-सम्राट् ने इतने साधुओ को अत्यन्त भक्तिभाव से नमस्कार किया है, इससे इन्हे क्या लाभ हुआ? भगवान् ने उत्तर दिया—वत्स! श्रेणिक ने कुछ ऐसे कर्म भूतकाल मे किये है जिनके कारण इनके सातवे नरक की आयु का वध हो चुका था। किन्तु आज इतने उल्लास और भक्तिभाव से अनेक सतो को नमस्कार करने के परिणामस्वरूप वह वन्ध प्रथम नरक का ही रह गया है।

यह सुनते ही श्रेणिक ने सोचा—अरे! मैने यह क्या किया? वदना को बीच मे ही क्यो रोक दिया? अच्छा हो कि अब बचे हुए सतो को भी नमस्कार कर आऊँ ताकि मेरा प्रथम नरक का वध भी टूट जाए। यह विचार कर वे उठे और सतो की वदना के लिये जाने लगे।

यह देखकर भगवान् ने कहा—देवानुप्रिय, अब किधर जा रहे हो? श्रेणिक ने उत्तर दिया—भगवन्! बचे हुए सतो की वदना करके प्रथम नरक के वध को भी तोड़ देना चाहता हूँ। भगवान् ने उनसे कहा—राजन्! अब यह नही हो सकता। तुमने सतो की पहले जो वदना की थी वह निष्काम थी, किन्तु अब तुम्हारी की हुई वदना सकाम हो जाएगी। ऐसी वदना से नरक का वध नही टूट सकता।

इस कथानक का आशय यही है कि गुणी जनो की अभ्यर्थना, विनय

तथा आदर-सत्कार करने पर महान् लाभ की प्राप्ति होती है। यहाँ तक कि नरक का बंध तोडा जा सकता है। विद्वज्जनो की सगति से हृदय निर्मल होता है तथा जीवन मे आमूल परिवर्तन भी आ जाता है।

भर्तृहरि के श्लोक मे दूसरा प्रश्न पूछा गया है—ससार मे दुःख क्या है? साथ ही इसका उत्तर भी दिया है कि मूर्खों की संगति ही ससार मे दुःख है। इस विराट् विश्व मे मनुष्य सदा सुख को खोजता है, उसे ही पाना चाहता है किन्तु, चाहने पर भी अगर मूर्ख और अज्ञानी व्यक्तियो का उसे सग मिल जाता है तो सुख के स्थान पर उसे कदम-कदम पर दुःख की प्राप्ति होती है।

अज्ञानी और मूर्ख व्यक्ति की सगति करना अथवा उससे मित्रता करना विपत्तियों को और दुःखो को निमत्रण देने के समान ही है। इसीलिये कहा गया है :—

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्त वनचरैः सह।
न मूर्खजन संपर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि॥

अर्थात्—दुर्गम पर्वतो और वनो मे वनचरो के साथ विचरना श्रेष्ठ है, परन्तु मूर्खों के साथ स्वर्ग मे रहना भी बुरा है।

तात्पर्य यही है कि मूर्ख की सगति से सदा ही विपत्तियाँ मस्तक पर मडराया करती हैं और कभी-न-कभी उन्हे भोगना ही पडता है। कहते हैं—

एक राजा के दरबार मे एक मदारी अपने बन्दर का खेल दिखाने आया। खेल शुरू हुआ और समाप्त भी होने आया। अन्त मे मदारी ने बन्दर से कहा—तू राजा का अगरक्षक बन सकता है या नही? बन्दर फौरन एक तलवार लेकर राजा के सिंहासन के समीप पहुँचा और बडी तेजी से तलवार घुमाने लगा। राजा उसकी तलवार चलाने की कला देखकर बडे प्रसन्न हुए। उन्होने बन्दर को मदारी से खरीद लिया और उसे अपना अग-रक्षक नियुक्त कर दिया। प्रतिदिन रात्रि को बन्दर के हाथ मे तलवार दे दी जाती और वह राजा के शयनागार के दरवाजे पर तलवार लिये जागता रहता और पहरा देता।

उसी शहर मे एक ब्राह्मण रहता था। वह बडा विद्वान् था किन्तु साथ ही बहुत गरीब भी। अपनी दरिद्रता से तग आकर एक दिन उसने चोरी करने का विचार किया और चोरी करने के उद्देश्य से राजमहल की ओर चला। किसी तरह वह राजमहल मे प्रवेश कर गया और राजा के शयनागार

की ओर पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि बन्दर नंगी तलवार लिये हुए राजा के शयनागार के द्वार पर खड़ा पहरा दे रहा है। संयोग से उसी समय एक भयंकर काला सर्प निकला और राजा के समीप फन उठाकर खड़ा हो गया। सर्प की छाया राजा की गर्दन पर पड़ रही थी। बन्दर मूर्ख तो था ही उसने समझा कि सर्प राजा की गर्दन पर बैठा है अतः इसे मार डालूं। उसने तलवार उठाई और राजा की गर्दन पर चलाने के लिये तैयार हो गया।

ब्राह्मण ने यह देखा तो उसने लपक कर बन्दर का हाथ पकड़ा लिया और उससे तलवार छुडाने का प्रयत्न करने लगा। दोनों की छीना-झपटी से राजा की निद्रा खुल गई और उसने विप्र से उस घटना के विषय में पूछा। गरीब ब्राह्मण ने अपनी दरिद्रता, राजमहल में आने का प्रयोजन और उस बन्दर की मूर्खतापूर्ण करतूत के विषय में राजा को बताया। राजा समझ गया कि मूर्ख बन्दर को अंग-रक्षक बनाकर मैंने कितनी महान गलती की। उसने बन्दर को हटा दिया तथा ब्राह्मण को बहुत-सा धन इनाम में देकर अपना अंग-रक्षक बना लिया।

वास्तव में ही मूर्ख की संगति अनिष्टकारी होती है। कहा गया है —

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रंजयति॥

अर्थात् अनजान मनुष्य को आसानी से सुधार सकते हैं, ज्ञानियों को अत्यन्त सरलता से वशीभूत किया जा सकता है, परन्तु पण्डितमन्य मूर्ख को ब्रह्मा भी नहीं समझा सकता।

इसीलिए मनुष्य को चाहिये कि वह अज्ञानी की संगति न करे और न उसे मित्र बनाए, चाहे वह कितना ही प्रेम क्यों न दिखाए और कितना भी धनी क्यों न हो। संगति और मित्रता बुद्धिमान् तथा ज्ञानवान् के साथ ही करनी चाहिये। पाश्चात्य दार्शनिक "यूरीपिडीज" ने कहा है —

"Life has no blessing like a prudent friend."
— ज्ञानी मित्र के सदृश जीवन में कोई वरदान नहीं है।

इससे आगे भर्तृहरि कहते है—समय चूक जाने पर क्या हानि होती है, और अवसर की कद्र न करने वाला व्यक्ति कितना भाग्यहीन होता है?

प्रत्येक पल, घड़ी, घंटा और दिन मनुष्य के जीवन में एक बार ही आता है। लाख प्रयत्न करने पर भी पुनः उस बीते समय को प्राप्त नहीं किया जा सकता। समय अथवा अवसर अत्यन्त मूल्यवान् है।

अनएव प्राप्त समय को व्यर्थ नष्ट कर देना घोर अज्ञानता है। ससार मे सभी मनुष्य जीते है किन्तु जीवन की सार्थकता पर विरले व्यक्ति ही विचार करते है। प्रत्येक मनुष्य को भलीभांति समझ लेना चाहिये कि यद्यपि आत्मा अमर है किन्तु यह जीवन अमर नही है। इसलिये इस नश्वर शरीर के द्वारा प्रत्येक क्षण से और प्रत्येक अवसर से लाभ उठा लेना चाहिये। अन्यथा किसी भी क्षण यह जन्म समाप्त हो जाएगा और पुन मानव-भव को प्राप्त करना कठिन हो जाएगा। कहा भी है —

दुर्लभ मानव जन्म है, मिले न बारम्बार।
पत्ता टूटा वृक्ष से लगे न फिर से डार॥

—जिस प्रकार पत्ता वृक्ष से टूट जाने पर फिर उसमे नही लगता उसी प्रकार अनेकानेक पुण्यो के सयोग मे पाया हुआ यह दुर्लभ मनुष्य-जन्म भी पुन शीघ्रता से नही मिलता।

इस मनुष्य भव मे ही मानव को विशिष्ट विवेक और ज्ञान की प्राप्ति होती है और इस मानवशरीर का निमित्त-पाकर ही साधु पुरुष अलौकिक आत्मिक गुणो का विकास प्राप्त करते है। ऐसे महान् उपयोगी और लाभप्रद जीवन को पाकर भी अगर मनुष्य समय का लाभ नही उठाते, आत्म-कल्याण नही करते तो इसकी प्राप्ति निरर्थक ही साबित हो जाती है।

समय की सार्थकता आत्म-कल्याण करने मे ही है। आत्मकल्याण का अर्थ है—आत्मा का अपने विशुद्ध रूप की उपलब्धि कर लेना। आत्मा ज्यो-ज्यो अपने असली स्वरूप की ओर प्रगति करती जाती है त्यो-त्यो उसे अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है। किन्तु यह तभी हो सकता है जबकि पाँचो इन्द्रियो के विषयो से बचा जाए और प्रमाद से दूर रहा जाय। प्रमादी व्यक्ति कभी भी अवसर का लाभ नही उठा पाता और समय बीत जाने पर रो-रोकर पश्चात्ताप करता है।

एक दरिद्र व्यक्ति था। एक दिन वह किसी राजा के दरबार मे गया। उसने राजा से अपनी दरिद्रता की करुण कथा कहकर धन की याचना की। उस दिन राजा का मूड कुछ अच्छा था और उसे दरिद्र पर दया भी आ गई। फलस्वरूप उसने दरिद्र से कह दिया—आज सूर्य अस्त होने तक खजाने मे से जितना भी धन ले जा सको, ले जाओ।

दरिद्र व्यक्ति राजा की बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और सोचने लगा वाह! अब क्या फिक्र है, सूर्य अस्त होने मे तो अभी बहुत देर है!

तव तक तो मैं न जाने कितना धन राजकोष से निकाल कर ले जाऊँगा।

महल से निकलकर वह अपने घर गया। उसने अपनी पत्नी से राजा की उदारता की बात कही। स्त्री भी अत्यत आनदित हुई और बोली—बडे सौभाग्य की बात है यह, झट जाओ और जितना भी धन लाते बने लेकर आ जाओ।

दरिद्र बोला—मूर्ख औरत! दो दिन से मैंने खाना नही खाया है। भूखा रहकर धन कैसे ढोकर ला सकूँगा। पहले तू कही से उधार लाकर अच्छा भोजन बना। मैं तो खाकर ही जाऊँगा, जल्दी क्या है? सारा दिन तो पडा है धन लाने के लिये।

बिचारी स्त्री भागी-भागी गई और बनिये के यहाँ से सौदा लेकर आई। शीघ्रता से उसने बढिया खाना बना दिया। भोजन कर चुकने पर उसने राजमहल मे जाने के लिये कहा।

दरिद्र ने आज खूब डटकर खाया था। खाते ही उसे आलस्य आने लगा तो यह सोचकर कि अभी थोडी देर मे जाकर धन ले आऊँगा, सो गया। लेटते ही उसे गहरी नीद आ गई। कुछ देर बाद उसकी स्त्री ने उसे बडी कठिनाई से जगाया और महल मे जाने के लिए रवाना किया।

दरिद्र उठकर चल दिया पर थोडी दूर ही गया था कि मार्ग मे उसने बडा ही सुन्दर नाटक होते हुए देखा। सोचने लगा—कुछ समय तक यह नाटक देख लू, फिर तो राजमहल मे जाना ही है। वहाँ से एक बार मे ही ढेर सारे हीरे जवाहरात बाधकर ले आऊँगा तो भी जिन्दगी भर के लिए आराम हो जाएगा।

अभागा व्यक्ति नाटक देखने बैठ गया और देखते-देखते वह राजमहल और धन की बात भूल गया। जब नाटक खत्म हुआ तो उसे धन लाने की बात याद आई किन्तु अफसोस कि उस समय तक सूर्यास्त हो चुका था। राजमहल मे जाने पर भी उसे सूर्य अस्त हो जाने के कारण एक पाई भी वहाँ से नही मिली। वह जोर-जोर से रोता और सिर पीटता हुआ खाली हाथ वापिस लौटा।

सज्जनो! उस भाग्यहीन दरिद्र ने इन्द्रियसुखो के प्रलोभन मे आकर और प्रमाद करने के कारण अवसर हाथ से खो दिया और फिर पश्चात्ताप की आग मे जलता रहा। मनुष्य का भी ठीक यही हाल है। वह जीवन को

वडा लम्वा मानकर आज का कार्य कल और कल के कार्य को परसो पर टालता रहता है और विषयभोगो मे लिप्त बना रहता है। किन्तु जब वृद्धावस्था आ जाती है और शारीरिक शक्ति जवाब दे देती है तब कुछ भी न कर पा सकने के कारण सिर धुनता है और रोता है। उस समय स्वजन परिजन भी उस निर्वलता मे काम नही आते—

सबै सहायक सबल के, कोउ न निवल सहाय।
पवन जगावत आग को, दीपहि देत बुझाय॥

इस ससार मे वस्तुत कोई भी आत्मा का सच्चा सहायक नही है। सारे नाते-रिश्ते सिर्फ मन को मोहनेवाले हैं। सार उनमे कुछ भी नही है। ससारी जीव जिन व्यक्तियो के मोह मे फसा रहता है और अपने अमूल्य जीवन को खत्म कर देता है, वे ही सगे-सबधी वृद्धावस्था आने पर साथ छोड देते हैं। वह पत्नी भी जिसके सुख के लिये मानव जीवन भर परिश्रम करता है मृत्यु-काल आते ही डरकर भाग जाती है। कहा गया है :—

घर की नार बहुत हित जासों रहत सदा सग लागी।
जब ही हस तजी यह काया, प्रेत प्रेत कर भागी॥

इसीलिये मनुष्य को चाहिये कि वह ससार के मोह-पाश मे बँधकर तथा इन्द्रियो के सुखो मे मग्न रहकर कदापि इस मानव-भव रूपी सुअवसर को न खोवे। क्योकि जब आत्मा जन्मान्तर लेने के लिये प्रस्थान करेगी तब वह अकेली ही जाएगी। समस्त सासारिक वस्तुएँ यहाँ तक कि अपनी देह भी, यही रहकर भस्म होगी।

आत्मा का गौरव इसी मे है कि वह मनुष्यजीवन-रूपी अवसर को प्राप्त करके और इसका लाभ उठा करके शाश्वत एव परमानन्दमय निर्वाण पद प्राप्त करे। जन्म और मरण के चक्र से मुक्त होकर अपने विशुद्ध आत्म-स्वरूप को प्राप्त करे। यही समयसूचकता है और समय के द्वारा लाभ उठाना है। समय की कद्र न करनेवाले को अत मे अवश्य ही पश्चात्ताप करना पडता है। इसलिये बुद्धिमान् व्यक्ति को इस मानवजन्म के किसी भी क्षण को व्यर्थ नही जाने देना चाहिये।

श्लोक मे आगे बताया गया है कि हमारी 'निपुणता' किस बात मे है ? उत्तर भी साथ ही दिया गया है कि धर्म तत्वो मे रुचि होना तथा तत्वो के स्वरूप को समीचीन रूप से समझना ही हमारी निपुणता या चतुराई है।

सृष्टि का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुख से दूर भागता है। उसके जीवन का परम लक्ष्य ही सुखी होना है, और इसीलिये वह इस दिशा मे पूर्ण प्रयत्न करता है। साधन-सामग्री भी सगठित करता है। किन्तु फिर भी अपनी लक्ष्यसिद्धि मे असफल रहता है। इसका मुख्य कारण है आत्म-रूप की विस्मृति। जिस प्रकार मनुष्य मदिरापान करके आत्म-विस्मृत हो जाता है उसी प्रकार प्राणी अनादि काल मे मोहरूपी मदिरा का पान करके अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप को भूला रहता है।

आत्म-विस्मृति के कारण वह पर पदार्थों मे राग करता है, उनका सग्रह करता है, और उनसे सुख पाने की चेष्टा करता है। यही आत्म-विस्मृति है क्योकि वास्तविक सुख आत्मा मे है और वह पर पदार्थों मे उसकी खोज करता है। इसके कारण वह आत्म-स्वातन्त्र्य को भूलकर परमुखापेक्षी बन जाता है। आत्म-विस्मृति के कारण प्राणी अनन्त काल से अनन्त पीडाओ की विकराल ज्वाला मे झुलस रहा है, रो रहा है और चीख रहा है। अपनी विवशता पर वह बार-बार खीझता है, किन्तु मन मारकर रह जाता है। अपनी आत्म-विस्मृति के एव मिथ्याबुद्धि के कारण ही दु ख-मुक्ति का एक भी उपाय उसे नही सूझता।

इस प्रकार हम देखते है कि मिथ्याबुद्धि के कारण मनुष्य को जन्म-जन्मातरो तक कष्ट उठाना पडता है। इसके विपरीत अगर तत्त्व को पहचान लिया जाय तो मिथ्याबुद्धि का नाश हो जाता है और प्राणी सम्यक् दृष्टि प्राप्त कर लेता है। तत्त्वज्ञान और निर्मल दृष्टि मे मनुष्य की आत्मविस्मृति एव मिथ्यादृष्टि खडित हो जाती है। यही से आध्यात्मिक विकास प्रारम्भ होता है।

ज्ञानी पुरुष वही है जिसे विशुद्ध सम्यग्दृष्टि प्राप्त है। सम्यक्त्व के विना विपुल ज्ञान भी अज्ञान है। और सम्यक्त्व की विद्यमानता मे अल्पज्ञान भी सम्यग्ज्ञान है। सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने पर जीव को सहज ही ऐसा विवेक प्राप्त हो जाता है, जिसके कारण वह विषयभोगो से विरक्त हो जाता है। यह सभव है कि वह उनका त्याग करने मे समर्थ न हो, फिर भी वह भोगो को भोगता हुआ भी उनमे आसक्त नही रहता। आसक्ति ही आत्मा को दुर्बल बनाती है। अगर आसक्ति का राक्षस नष्ट कर दिया जाए तो इच्छित वस्तुएँ मनुष्य को स्वय ही सुलभ हो जाती है। इसके विपरीत मूढ और भोगो मे आसक्त पुरुष मोहजाल मे फँसकर मरण-पर्यंत बनी रहने वाली चिन्ताओ से घिरे रहते हैं और अत मे घोर अशान्ति और दु ख पाते हैं। श्रीकृष्ण ने गीता

मे कहा है :—

आसुरीं योनिमापन्ना, मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय, ततो यान्त्यधमा गतिम् ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! मूढ जन जन्म-जन्मान्तर मे आसुरी योनि को प्राप्त होते हैं और परमात्मा की शरण न पाकर नीच गति को प्राप्त होते है ।

जहा आसक्ति होती है वहाँ लोलुपता, राग-द्वेप तथा अविवेक सभी विद्यमान रहते हैं और ये सभी पतन के कारण बनते है—

विवेकभ्रष्टाना भवति विनिपातः शतमुख ।

विवेक से भ्रष्ट लोगो का सैकडो प्रकार से पतन होता है । असत्य भापण, मायाचार, पिशुनता तथा शठता आदि अनेक दुर्गुणों की पात्र बन कर प्राणी की आत्मा कलुषित से कलुषिततर बनती जाती है ।

इन दुर्गुणो से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है-अन्तर मे विवेक की जागृति करना तथा सम्यग्दृष्टि बनकर आत्मस्वरूप को समझना । सच्चे देव गुरु तथा धर्म मे दृढ श्रद्धा रखने वाला पुरुप ही सम्यक्त्व की प्राप्ति कर सकता है ।

महानुभावो ! यहाँ हमे जरा गभीर रूप से विचार करना होगा । देव, गुरु तथा धर्म के विषय मे नाना प्रकार की आशकाएँ पुरुपो के हृदय मे उठती हैं । इस सबध मे उनकी प्रधान युक्ति होती है कि आखिरकार श्रद्धा किस पर रखी जाए ? ससार मे अनेक परस्पर विरोधी मत और पथ है । नाना प्रकार के असख्य देव-देवियाँ हैं और गली-गली मे गुरु भटकते दिखाई देते हैं । कोई सिर पर जटा लादे, कोई शरीर पर भस्म लपेटे, कोई गेरुआ रग के कपडे पहने, कोई दूसरा वेप धारण किए । वे सभी अपने को साधु कहते है । ऐसी दशा मे किसे गुरु, किसे धर्म और किसे सच्चा देव माना जाए ?

इस विपय मे मेरा यह कथन है कि किस मत के देव गुरु और शास्त्र सच्चे हैं, यह तो एक लम्बी चर्चा है और इसके विस्तार मे जाना अभी सभव नही है । फिर भी उनकी कसौटी मैं बतला देना चाहता हूँ जिस पर कसकर आप स्वय ही देव, गुरु धर्म तथा शास्त्र की परीक्षा कर सकते हैं ।

सच्चे देव की प्रथम कसौटी यह है कि जिसकी आत्मा पूर्ण रूप से निर्मल और निर्विकार हो गई हो, जिसने आत्मा के समग्र दोपो का नाश करके अपनी विशुद्ध आत्मदशा को प्राप्त कर लिया हो, जो मोह और अज्ञान से

सर्वथा अतीत हो चुका हो अर्थात् वीतराग और सर्वज्ञ हो गया हो, वही देव सच्चा है और आराधना करने योग्य है।

दूसरी कसौटी धर्म की सत्यता की परीक्षा के लिये है। सर्वज्ञ और वीतराग पुरुष के द्वारा जो उपदिष्ट हो, जो अहिंसा, सयम और तप का विधान करनेवाला हो, जिसमे सदाचार का समर्थन किया गया हो, दया तथा करुणा का विधान किया गया हो, और जिसमे सत्य, ब्रह्मचर्य, एव अपरिग्रह आदि को उपादेय बताया गया हो वही सच्चा धर्म है और आचरण मे लाने योग्य है।

बाह्य वेश के कारण तो कोई भी मनुष्य गुरु पद का अधिकारी नही बन सकता। किन्तु जिसने पूर्ण सयम का पालन करने की प्रतिज्ञा ली है और जो अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ है, जो पूर्ण अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करता है, जो स्वाध्याय, ध्यान, आत्मचिन्तन आदि आत्मशुद्धि के व्यापारो मे लीन रहता है, यतनापूर्वक चलता बोलता और आहार लेता है, जो समस्त क्रियाओ मे जीवहिंसा न हो जाने का ध्यान रखता है और यथाशक्य तपश्चर्या करके इन्द्रियो को और मन को जीतने के लिये जूझता है, जिसकी वाणी मे असीम मधुरता होती है और ऐसी वाणी से वह जगत के जीवो पर अनुग्रह करके उन्हे धर्म का सन्मार्ग बतलाता है, जिसके अन्त करण मे दिव्य भावनाओ की ज्योति जगती रहती है, वही सच्चे गुरुपद का अधिकारी होता है।

इसी प्रकार जो शास्त्र आप्तप्रणीत हो, किसी भी युक्ति से बाधित न हो सकता हो, प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध न हो, कुमार्ग से सुमार्ग की ओर लानेवाला हो, जो प्राणी मात्र के लिये हितकारक हो, जिसमे हिंसा, झूठ आदि पापो का विरोध और उज्ज्वल भावो का समर्थन हो, वही सच्चा शास्त्र माना जा सकता है।

बंधुओ! इन कसौटियो पर कसकर ही सच्चे देव, धर्म, गुरु और शास्त्र की परीक्षा की जा सकती है। इनमे जो खरा उतरे उसे ही सच्चा मानना चाहिये और उसके पश्चात् उस पर अटल श्रद्धान करके उसके द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर निश्शक भाव से चलना चाहिये। इसी मे हमारी निपुणता है।

卐

सुख और दुख की खोज (२)

बधुओ ! कल मैंने आपको भर्तृहरि का एक श्लोक सुनाया था और उसमे दिये हुए कुछ प्रश्नो तथा उनके उत्तरो का विवेचन किया था। आज भी उसी श्लोक के कतिपय प्रश्नोत्तरो के विषय मे, जो शेष रह गए है, विचार करेंगे।

श्लोक मे कहा गया है—"क शूर ?" अर्थात् शूर कौन है ? इसका उत्तर भी साथ ही है– जो व्यक्ति इन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर लेता है वही शूरवीर माना जा सकता है।

अनादिकालीन वासनाओ के प्रभाव से जीव भोगो की ओर आकर्षित होता है। भोगो मे उसे रस आता है और त्याग मे नीरसता का अनुभव होता है। किन्तु विरले व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो अपनी भोग-लिप्साओ पर विजय प्राप्त कर लेते है। उन्हे भोग रोगो की तरह महसूस होते हैं और विलास विनाश के समान दिखाई देते हैं। ऐसे जो वासनाओ के विजेता होते हैं वे ससार के समस्त विषय-भोगो से विरक्त हो जाते हैं और त्यागवृत्ति को अपनाकर अपनी आत्मा की उन्नति मे लीन हो जाते हैं। वे सदा अपने मन को आगाह करते रहते है —

"मान लै या सिख मोरी, झुके मत भोगन ओरी।
भोग भुजग-भोग सम जानो, जिन इनसे रति जोरी
ते अनन्त भव भीम भरे दुख, परे अधोगति पोरी।
बधे दृढ पातक डोरी ।।

कहते है—रे मन ! मेरी यह शिक्षा मान ! तू भोगो की ओर प्रवृत्ति मत कर। ये पचेन्द्रिय सम्बन्धी भोग भुजङ्ग के सदृश हैं। जिस प्रकार सर्प का शरीर देखने मे सुन्दर, स्निग्ध और चमकता मालूम होता है, परन्तु उसे स्पर्श करते ही सर्प डँस लेता है और प्राणी मर्मान्तक पीडा का अनुभव करता

हुआ प्राण-त्याग करता है। भोगो का भी यही हाल है। भोगकाल मे भोग मन को प्रसन्न करने वाले और प्रिय जान पडते है किन्तु जब उनका परिणाम सामने आता है तो वे महा भयकर पीडा पहुँचाते हैं और आत्मा को अधोगति मे ले जाते है। फिर वहाँ से उसका निकलना कठिन हो जाता है।

वास्तव मे शाश्वत और परिपूर्ण सुख भोगोपभोग मे नही, बल्कि भोगो से विमुख होकर शुद्ध-बुद्ध आत्मा के स्वरूपरमण मे है। आत्मस्वरूप मे लीन रहने वाली आत्मा ही भव-बन्धन से मुक्त होकर शाश्वत सुखानुभूति प्राप्त कर सकती है। भोगैषणा तो अमर और अनन्त है। ज्यो-ज्यो प्राणी भोगो का भोग करता है, उसकी तृष्णा और आकुलता उतनी ही अधिक वर्धमान होती जाती है। भोगो की चाह साधारण चाह नही है। इसको उपशान्त करने के लिये तो तीनो लोको की सम्पत्ति भी पर्याप्त नही हो सकती। इन्द्रियो की प्रवृत्ति तो विष के प्रयोग जैसी अमगलकारिणी है।

मानव का मन इन्द्रियसुखो पर मुग्ध होकर उन्हे प्राप्त करना चाहता है। और चाहता है कि प्रथम तो उसकी प्रत्येक इच्छा तुरन्त पूर्ण होती जाए और फिर प्राप्त हुए भोगो का उससे कदापि वियोग न हो। किन्तु वस्तु का स्वभाव तो अपरिवर्तनशील है, उसके स्वभाव मे कभी परिवर्तन नही होता। नीम का स्वभाव बदलकर जिस प्रकार कभी मीठा नही होता उसी प्रकार इन्द्रियसुखो का परिणाम कभी भी आत्मा के लिये कल्याणकारी नही हो सकता। लालसा मानव को क्षणिक सुख का अनुभव कराकर अन्त मे जन्म-मरण के चक्र मे फँसा देती है। महाभारत मे कहा गया है —

एतान्यनिगृहीतानि, व्यापादयितुमप्यलम्।
अविधेया इवादान्ता हया पथि कुसारथिम्॥

अर्थात् शिक्षा न पाये हुए तथा काबू मे न आनेवाले घोडे जिस प्रकार मूर्ख सारथि को मार्ग मे ही मार गिराते हैं, वैसे ही ये इन्द्रियाँ वश मे न रहने पर पुरुष को मार डालने मे समर्थ होती है।

इसीलिये कहा जाता है कि सच्चा शूरवीर वही है जो इन्द्रियो का स्वामी है। जो इन्द्रियो का दास है वह सबका दास है। ऐसा व्यक्ति मन को भी अपने आधीन नही कर सकता। इन्द्रियाँ पांच है किन्तु तीन इन्द्रियाँ विशेष प्रबल है—आँख, कान और जिह्वा। सर्वप्रथम नेत्रो के द्वारा ही आत्मा मे पाप-विष का प्रवेश होता है। नेत्रो द्वारा रूप देखकर मनुष्य उसमे आसक्त हो जाता है। नेत्रो द्वारा ही दूसरो का धन और वैभव देखकर ईर्ष्या तथा

द्वेप रखता है । सूरदास ने इन आँखो के द्वारा होने वाले अनर्थ को जानकर ही उन्हे लोह-शलाकाओं के द्वारा फोड दिया था। इजील मे भी कहा गया है —

"It thine eyes offend thee, pluck it out"

अर्थात् यदि तुम्हारी आँखें तुम्हे कुपथ पर ले जाएँ तो उनको निकाल डालो।

किन्तु यह उपचार वास्तव मे सही उपचार नही है। जैन-सिद्धान्त इन्द्रियविनाश को इन्द्रियदमन नहीं मानता। यद्यपि आँखो के चले जाने पर वह मनोहारी रूप को न देख सकेगा किन्तु महात्मा-जनो के दर्शन तथा सद्-ग्रन्थावलोकन मे भी तो वचित हो जाएगा। अपनी नित्य क्रिया भी साध नही सकेगा। इसके अतिरिक्त मन मे असयत और कल्पित मूर्तियाँ बनाकर अपना अनिष्ट करेगा। इसलिये इनका नाश न करके प्रकारान्तर से दमन करना ही श्रेष्ठ है।

नेत्र का स्वभाव रूप को देखना है। रूप सामने होगा तो वह दिखाई देगा ही। मगर रूप का दिख जाना अनर्थकारी नही है। किसी रूप मे मनोज्ञता और किसी मे अमनोज्ञता की कल्पना करके राग और द्वेप की वृत्ति का उत्पन्न होना अनर्थकारी है। साधना के द्वारा इन वृत्तियो का निर्मूलन करना ही वस्तुत इन्द्रियदमन है। इन्द्रियदमन के लिए मनोनिग्रह अनिवार्य है।

ससार मे अनेक जीव ऐसे हैं जो एक-एक इन्द्रिय के अधीन होकर ही अपने प्राण गवा बैठते है जैसे हिरण और सर्प कर्णेन्द्रिय के वश मे होकर, मछली रसनेन्द्रिय के कारण, पतग नेत्रो के कारण, भ्रमर घ्राणइन्द्रिय के कारण और हाथी स्पर्शनेन्द्रिय के कारण। फिर जो मनुष्य पाँचो इन्द्रियो का दास हो उसके विनाश मे क्या सदेह हो सकता है ?

इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह अत्यत सावधानी पूर्वक इन्द्रियो के साथ ही मन का भी दमन करे। उन पर सयम रखे। मन इन्द्रियो का स्वामी है और उस पर सयम रखना कठिन होता है। किन्तु मन पर सयम रखे बिना इन्द्रियो पर सयम रखना सभव नही। कबीर ने कहा भी है —

माला तो कर मे फिरे जीभ फिरे मन माहि।
मनुआ तो दस दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहि॥

अर्थात् हाथ मे मनुष्य माला फेरता रहे और जीभ से भगवान् का

नाम भी बार-बार लेता रहे किन्तु अगर मन चारों ओर दौड़ता फिरता है तो वह माला फेरना व्यर्थ है।

यह समझकर मानव को शूरवीर बनकर मन तथा इन्द्रियों को वश मे करके उन पर विजय प्राप्त करना चाहिये। जो मनुष्य दृढ निश्चय और साहस के द्वारा इनको जीतने का प्रयत्न करता है, परमात्मा भी उसकी सहायता करता है। आत्म-विश्वास एक शूरवीर के लिये अनिवार्य है। किसी भी अवस्था मे आत्म-विश्वास का त्याग नही करना चाहिये। इन्द्रियाँ आत्मा की शाति को नष्ट करने वाली हैं और इसलिये उनकी उच्छृखलता आत्मा के लिए अनर्थकर है। इनको नियत्रित रखना ही मनुष्य की सबसे बडी शूर-वीरता है। इन्हे जीतने वाला ही सच्चा शूरवीर कहला सकता है।

श्लोक मे आगे कहा गया है कि सच्ची प्रियतमा किसे कहा जा सकता है? उत्तर है—जो पति का अनुगमन करने वाली और पतिव्रता हो वही सच्ची भार्या और प्रियतमा कहलाने योग्य है।

पत्नियाँ तो घर-घर मे होती है किन्तु सच्ची धर्मपत्नियाँ बहुत कम सख्या मे दिखाई देती है। यद्यपि आचारशास्त्र मे जैसे पत्नी के लिये पतिव्रत-धर्म है, उसी प्रकार पति के लिये पत्नीव्रत धर्म भी है। इस सम्बन्ध मे दोनो की स्थिति मे शास्त्रो ने कुछ भी अन्तर नही किया है तथापि मानवता की अमर बेल नारियो के द्वारा ही सिञ्चित होती है और नारी ही के द्वारा वह पालित पोषित होकर फलती फूलती है। नारी ही माता होती है और माता के सस्कार बालक मे उतर कर उसे भविष्य मे महान् बना सकते हैं। इसलिये नारी का कर्तव्य और उत्तरदायित्व उसे ऊँचा दर्जा प्राप्त कराते है।

हम देखते हैं कि पशुओ मे गाय को अधिक महत्त्व दिया जाता है और उसकी पूजा की जाती है। तथा मनुष्य मे भी अनेक महान् पतिव्रताओ के नाम पति से पहले लिये जाते है। 'सावित्री-सत्यवान', 'सीता-राम' 'गौरी-शकर' तथा 'माता-पिता' शब्द ही बोले जाते है। जैन परम्परा मे भी प्रात -काल सोलह सतियो का भक्तिभाव से स्मरण किया जाता है। इससे साबित होता है कि सर्वत्र नारी को प्रथम स्थान प्राप्त है। ऐसा क्यो है? क्योकि सती नारियाँ स्नेह, सेवा तथा सहिष्णुता की मूर्ति होती है। नारी ही थके हुए पुरुषो का विश्रामस्थल और जख्मी हृदय के लिये सजीवनी होती है। एक बार भारत के प्रधानमत्री श्री नेहरू ने सभा मे कहा था कि "हिन्दू के जख्मी हृदयो का इलाज स्त्रियाँ ही कर सकती है।"

वास्तव मे ही शरीर के घाव सुखाने मे भले ही डाक्टर मददगार हो, परन्तु हृदय के घाव तो नारियाँ ही मिटा सकती हैं। यह कार्य नारियो के सिवाय दूसरा कोई भी नही कर सकता। स्त्रियो के सहयोग के बिना मनुष्य का काम एक दिन भी चलना सभव नही है। कर्म-रथ का एक पहिया स्त्री ही होती है। स्त्री की सहायता के विना कर्म-रथ नही चल सकता।

कुछ पुरुष नारी को अवला कहते है किन्तु अबला कहना उनका अपमान करना है। वल का अर्थ पशुबल मे लिया जाए तो मानना पडेगा कि स्त्री मे पुरुष की अपेक्षा वह कम है, किन्तु यदि वल का अर्थ नैतिक वल माना जाए तो निश्चित रूप से कहना पडेगा कि नैतिक वल स्त्री मे पुरुष की अपेक्षा अधिक है। महात्मा गाधी भी अहिसक वल की आशा पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो मे अधिक रखते थे। पुरुष स्त्रीहृदय की गहराई तक नही पहुँच सकता। स्त्री-हृदय मे ही प्रेम, अनुराग और सहानुभूति की मात्रा अधिक होती है। किसी विद्वान् ने कहा है—

Love is virtue of woman

अर्थात् प्रेम स्त्री का गुण है।

स्त्रियो मे स्वभावत स्नेह की मात्रा अधिक होती है। और स्नेह के प्रभाव के कारण ही वह वालक पर पिता की अपेक्षा अधिक प्रभाव डाल सकती है। शिवाजी और राणा प्रताप को साहसिक बनाने वाली उनकी माताएँ ही थी। शकराचार्य को ज्ञान के शिखर पर उनकी माता ने ही पहुँचाया था। गाधीजी का उनकी माता ने ही महात्मा बनाया था। विलायत जाने से पहले उनकी माता ने ही उन्हे एक जैन-सन्त के पास ले जाकर मासाहार, परस्त्रीसेवन तथा शराव पीने का त्याग कराया था, जिसके कारण उनका जीवन सभी के लिये अनुकरणीय बन गया। रानी मदालसा ने अपने पुत्रो को राजकुमार होने के बावजूद भी अत्यन्त विरक्त और महान त्यागी बना दिया था। इस प्रकार हम देखते है कि नारी पति और पुत्र दोनो के लिये सजीवनी का कार्य करती है।

इग्लैड मे, विलियम प्रथम के राज्यकाल मे एक सिपाही का किसी अपराध के कारण बादशाह ने मृत्युदड दिया। सिपाही का सिर्फ छ महीने पहले ही विवाह हुआ था। जब उसकी पत्नी ने यह समाचार सुना तो उसे महान् दु ख हुआ।

वह भागी-भागी जेल मे गई औ[illegible] पति से मिल

इजाजत मांगी। किन्तु जेलर ने सख्ती से इन्कार कर दिया। फासी होने मे कुछ ही घटा की देर थी। वह घबराकर वहाँ गई जहाँ से 'करफ्यूवेल' बजाया जाता था। उसी रात्रि को आठ बजे घंटा बजते ही फासी होने वाली थी।

घटा बजाने वाला भाग्य से बहरा और अधा था। स्त्री साहस करके उस मजिल पर चढी जहाँ पर घटा बजता था। बड़ी कठिनाई मे क्षत-विक्षत होकर भी वह घटे के समीप पहुँच सकी। वहाँ पहुँचकर उसने घटे को अपने दोनो हाथो से मजबूती से पकडा और उससे लटक गई।

घटा बजाने वाले ने ठीक समय पर रस्सी हिलाना शुरू किया और कुछ मिनटो के बाद उसे छोड दिया। बहरा तो वह था ही, घटे की आवाज न सुनकर भी उसने समझ लिया कि घटा बज गया। उधर सिपाही को फासी देने वाले तैयार खडे थे और प्रतीक्षा कर रहे थे कि कब घटा बजे और वे अपराधी को फासी दें।

लेकिन जब नौ बज गए और घटे की आवाज सुनाई नहीं दी तो सब लोग आश्चर्य मे पड गए। फासी देने को तैयार थे पर घटे की आवाज सुनाई न देने पर विवश होकर खडे रहे। आखिर यह सूचना बादशाह तक पहुँची तो बादशाह ने घटा बजाने वाले को बुलवाया और उसने घटा न बजाने का कारण पूछा।

घटा बजाने वाले ने कहा—जहाँपनाह। मैंने तो ठीक समय पर रस्सी खीच ली थी पर न जाने क्यो आज घटा नही बजा। बादशाह ने एक सिपाही को ऊपर भेजा तो उसने आकर बताया—महाराज। ऊपर एक स्त्री जिसके शरीर पर जगह-जगह चोट लगी हुई है, घटे को पकडे लटकी हुई है।

बादशाह बहुत हैरान हुआ और स्वय ऊपर गया। ऊपर जाकर उसने स्त्री से पूछा—बहन, क्या बात है? आज तुम यहाँ क्यो लटकी हुई हो? घटे के हिलने मे तुम्हे इतनी चोटे आ गई हैं। क्या कारण है, कि तुमने इतना कष्ट सहन किया है।

स्त्री राजा के पैरो पर गिर पडी और बोली- महाराज। आज जो व्यक्ति फासी पर लटकाया जाने वाला है वह मेरा पति है। आप मुझ पर दया करके उसे मुक्त कर दीजिये। आप की यह कृपा मै जीवन भर नहीं भूलूंगी।

राजा को स्त्री का साहस और पति के लिये असीम प्रेम देखकर दया

आ गई और उसने सिपाही को फासी के दंड से मुक्त कर दिया।

तात्पर्य यही है कि पति के लिये जितना त्याग नारी कर सकती है और कष्ट उठा सकती है उतना पति पत्नी के लिये नही कर सकता। अनेकों कठिनाइयाँ सहकर भी पति का साथ देने वाली नारी ही पतिव्रता कहलाती है। महाराज हरिश्चन्द्र के सत्य की रक्षा करने में रानी तारा ने क्या कसर रखी? फूल की तरह कोमलागी सीता लाख समझाने पर भी अपने पति राम,को छोडकर अयोध्या के राजमहलो मे रहने को तैयार नही हुई। उसने हँसते-हँसते वनवास के अनेकानेक सकटो को सहन किया। इतिहास मे अनेक राजपूत नारियो के उदाहरण हम देखते हैं जिन्होने, पति को कायरता का कलक न लगने देने के लिये अपने प्राणो का भी उत्सर्ग कर दिया हाडा रानी की तरह। राजपूत ललनाएँ पति की मृत्यु के पश्चात् भले ही उनके साथ सती हो जाती थीं किन्तु उससे पूर्व अपने पति को प्राण रहते सग्राम मे पीठ न दिखाने के लिये मजबूर कर देती थी। क्या वासना की पुतली और अबला ऐसा कर सकती है? कभी नही। इसीलिय कहा गया है कि सच्ची भार्या पतिव्रता स्त्री ही कहला सकती है और वही अपने पति को कुमार्ग से सुमार्ग पर लाकर उसके गौरव को बढा सकती है।

भर्तृहरि ने श्लोक मे आगे कहा है कि विद्या प्राप्त करना ही सच्चा धन है। भौतिक पदार्थो और आध्यात्मिक तत्वो के स्वरूप का समझने के लिये ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कोई साधन नही है। गीता मे कहा गया है —

'नहि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते।"

अर्थात् इस विशाल विश्व मे ज्ञान के समान अन्य कोई भी पवित्र पदार्थ नही है।

ज्ञान मन के विकारो को नष्ट करके उसको पवित्र बनाता है और बुद्धि को निर्मल बना देता है। वह मन को तत्वो की सूक्ष्म और गभीर विचारणा करने योग्य बनाता है। आत्मा की विकृतियों को दूर करके उसे स्वच्छ स्फटिक के समान कर देता है। एक पाश्चात्य विद्वान् कहता है —

What sculpture is to a block of marble, education is to the human soul.

—एडीसन

—ज्ञान अथवा शिक्षा मानव आत्मा के लिये वैसी ही है जैसे सगमरमर के टुकड़े के लिये शिलपकला।

कहते है कि ज्ञान मनुष्य का एक महान् लाभकारी तृतीय नेत्र है—'ज्ञान तृतीय पुरुषस्य नेत्र" हमारे चर्मचक्षु तो केवल वर्तमान मे उपस्थित भौतिक पदार्थ को ही देख सकते है, किन्तु मनुष्य का ज्ञान रूपी एक तीसरा नेत्र ऐसा है जो तीनो कालो की घटनाओ को जान सकता है।

ससार का सबसे बडा धन ज्ञान ही है। सम्यक्ज्ञान पूर्वक सात्विक भावनाओ की आराधना करने मे अनेकानेक कर्मों का नाश होता है और आत्मा मुक्ति प्राप्त करने के योग्य बनती है। गीता मे कहा भी है —

"ज्ञान लब्ध्वा परा शातिमचिरेणाधिगच्छति।"

यानी सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति कर लेने पर यह आत्मा अजर-अमर शाति को शीघ्र ही प्राप्त कर लेती है।

निरन्तर ज्ञानाभ्यास करने से आत्मा का वह आदर्श स्वरूप प्राप्त हो जाता है, जो कि सत्, चित् और आनन्द रूप है। सत् का अर्थ है - अनादि-अनन्त रूप। चित् का तात्पर्य है —ज्ञान स्वरूप और आनन्द का मतलब है—अनन्त निराकुलता।

इस सृष्टि मे हमे दो प्रकार के प्राणी दिखाई देते हैं—ज्ञानी तथा अज्ञानी। ज्ञानी हम उन्हे कह सकते है जो विचार और विवेक से युक्त है। जिनमे आत्मा-अनात्मा का विवेक नही वे अज्ञानी है। ज्ञानी पुरुष अपने कल्याण का मार्ग खोज लेते है और उस पर चलने का यथाशक्ति प्रयत्न करते है। इसके विपरीत अज्ञानी व्यक्ति पुण्य पाप तथा उनके फलस्वरूप होने वाले परभव पर विश्वास नही करते और आत्मा को भी इसी देह के साथ नष्ट हुआ मानते हैं।

बधुओ ! यहाँ ध्यान रखना आवश्यक है कि ज्ञानी तथा अज्ञानी की व्याख्या किसी व्यक्ति की विद्वत्ता अथवा अविद्वत्ता के आधार पर नही की जा सकती। कोई व्यक्ति मोटे-मोटे ग्रन्थो को पढकर पडित बन सकता है, अनेक शास्त्रो मे वह प्रवीण हो सकता है, वक्तृता तथा शास्त्रार्थ मे कुशल हो सकता है किन्तु यदि उसे आत्मा की शाश्वत सत्ता पर विश्वास नही है, उसकी तत्त्व पर श्रद्धा नही है और उसके हृदय मे विवेक नही है तो वह ज्ञानी नही वरन् अज्ञानी की कोटि मे गिना जाने योग्य है।

और इसके विपरीत ऐसा पुरुष जिसने विद्वत्ता प्राप्त नही की है, जो पडित कहलाने का अधिकारी नही है, किन्तु उसके हृदय में यदि सहज विवेक-

शीलता है, जिसका अन्त करण सरलता से विभूषित है, जो वीतराग की वाणी पर अटल श्रद्धा रखता है अर्थात् जिसकी भावना सम्यक् भावना हो चुकी है वही वास्तव मे सच्चा ज्ञानी है। और ऐसा ज्ञान प्राप्त करना सच्चा धन प्राप्त करना है।

सम्यक्त्वसहित ज्ञान प्राप्त कर लेने पर जीव को सहज ही ऐसा विवेक प्राप्त हो जाता है जिसके कारण वह विषय भोगो मे विरक्त हो जाता है। यह सभव है कि वह उनका त्याग करने मे पूर्ण समर्थ न हो फिर भी अन्त -करण से वह उनमे लिप्त नही होता। वह भोगो को भोगता हुआ भी उनमे अनासक्त रहता है।

कहा जा सकता है कि जो मनुष्य सम्यक्-दृष्टि है, ज्ञानी भी है और भोगो को हेय समझता है वह उनका सर्वथा त्याग ही क्यो नही कर देता ? उत्तर यह है कि चारित्र की आराधना ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम पर निर्भर नही है, वरन् चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम और उपशम से होती है। कर्मोदय के कारण वह चरित्र का अनुष्ठान नही कर सकता। फिर भी उसका विवेक जागृत रहता है अत वह सत्य और असत्य को तथा हेय और उपादेय को समझता है। वह सदा भावना यही रखता है कि कौन-सा वह शुभ समय आवे जब मैं हेय का त्याग कर दूं। जिस प्रकार एक कैदी जेल मे रहते हुए वहाँ के नियमो का पालन करता है, वहाँ का बुरा-भला खाता है फिर भी चाहता यही है कि कब वह समय आए कि मैं यहाँ से बाहर निकलूं। उसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति ससार रूपी कैदखाने से निकलने की अभिलाषा सर्वदा रखता है। सासारिक भोग-विलास उसे रुचिकर नही होते।

अज्ञानी व्यक्ति विषय-भोगो को उपादेय समझता है और भले ही वह उन्हे भोग न सके, फिर भी भोगने की इच्छा रखता है। उनमे आसक्ति रखता है। परिणाम यह होता है कि ज्ञानी पुरुष सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करके मुक्ति प्राप्त कर लेते है और अज्ञानी जीव कर्मों का भार लादे हुए जन्म-मरण के चक्र मे फँसे रहते हैं। शास्त्र मे कहा है —

बालाणं अकामं तु, मरणं असइं भवे।
पंडियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सइं भवे॥

—उत्तराध्ययन, ५-३

अर्थात् अज्ञानी पुरुषो का अकाम-मरण बार बार होता है और ज्ञानी पुरुषो का उत्कृष्ट सकाम मरण एक बार होता है।

ज्ञानी और अज्ञानी के जीवन मे जितना भेद होता है उतना ही उनकी मृत्यु मे भी होता है। अज्ञानी व्यक्ति मृत्युकाल आने पर हाय-हाय करता है और सोचता है—"मैं अपनी बडे कष्ट मे उपार्जन की हुई सुख-सामग्री मे विलग हो रहा हूँ। हाय, मेरे अत्यंत प्रिय पारिवारिक जन मुझसे बिछुड रहे है, मेरी अभिलाषाएँ अपूर्ण ही रह गईं और सारी तमन्नाएँ मिट्टी मे मिल गईं।"

इस प्रकार खेद दु ख शोक तथा घोर पश्चात्ताप के कारण अत्यन्त विकल होकर वह प्राणत्याग करता है और इसी कारण उसे पुन पुन ससार मे जन्म-मरण करना पडता है। क्योंकि जब तक मनुष्य की कामनाओ का अन्त नही हो जाता, तब तक जन्म-मरण के प्रवाह का भी अत नही हो सकता।

ज्ञानी की स्थिति भिन्न प्रकार की होती है। वह जानता है कि मृत्यु कोई असाधारण वस्तु नही है। वह एक अत्यत साधारण क्रिया ही है। जैसे पुराना वस्त्र उतार कर फेंक दिया जाता है और नया वस्त्र धारण किया जाता है, उसी प्रकार वृद्धावस्था मे जर्जर हुए शरीर को त्याग कर पुन नवीन जन्म प्राप्त हो जाता है। गीता मे भी कहा है —

वासासि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा,-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(अ० २-२२)

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रो को त्याग कर दूसरे नये वस्त्रो को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को त्याग कर दूसरे नये शरीर को प्राप्त कर लेता है।

ऐसे विचारो के कारण ज्ञानी जन मृत्यु की भयकरता को जीत लेते है। वे मृत्यु का सामना अत्यन्त निर्भयता पूर्वक करते हैं। निर्भयता ज्ञानियो का प्रथम और महान् लक्षण है। वे मृत्यु से तनिक भी भयभीत न होते हुए कहते हैं —

जिस मरने से जग डरे, मेरे मन आनन्द।
मरने ही ते पाइये, पूरन परमानन्द॥

जगत् के अज्ञानी व्यक्ति जिस मृत्यु के स्मरण मात्र से ही कांपते है, ज्ञानी पुरुष उसी का निर्भयता पूर्वक सामना करते है। और उसके निमित्त से परमानन्द की प्राप्ति की आकाक्षा रखते हैं। जिस प्रकार एक कृषक अपने खेत

शीलता है, जिसका अन्त करण सरलता से विभूषित है, जो वीतराग की वाणी पर अटल श्रद्धा रखता है अर्थात् जिसकी भावना सम्यक् भावना हो चुकी है वही वास्तव मे सच्चा ज्ञानी है। और ऐसा ज्ञान प्राप्त करना सच्चा धन प्राप्त करना है।

सम्यक्त्वसहित ज्ञान प्राप्त कर लेने पर जीव को सहज ही ऐसा विवेक प्राप्त हो जाता है जिसके कारण वह विषय भोगो से विरक्त हो जाता है। यह सभव है कि वह उनका त्याग करने मे पूर्ण समर्थ न हो फिर भी अन्त -करण से वह उनमे लिप्त नही होता। वह भोगो को भोगता हुआ भी उनमे अनासक्त रहता है।

कहा जा सकता है कि जो मनुष्य सम्यक्-दृष्टि है, ज्ञानी भी है और भोगो को हेय समझता है वह उनका सर्वथा त्याग ही क्यो नही कर देता ? उत्तर यह है कि चारित्र की आराधना ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम पर निर्भर नही है, वरन् चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम और उपशम से होती है। कर्मोदय के कारण वह चरित्र का अनुष्ठान नही कर सकता। फिर भी उसका विवेक जागृत रहता है अत वह सत्य और असत्य को तथा हेय और उपादेय को समझता है। वह सदा भावना यही रखता है कि कौन-सा वह शुभ समय आवे जब मैं हेय का त्याग कर दूं। जिस प्रकार एक कैदी जेल मे रहते हुए वहाँ के नियमो का पालन करता है, वहाँ का बुरा-भला खाता है फिर भी चाहता यही है कि कब वह समय आए कि मैं यहाँ से बाहर निकलूं। उसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति ससार रूपी कैदखाने से निकलने की अभिलाषा सर्वदा रखता है। सासारिक भोग-विलास उसे रुचिकर नही होते।

अज्ञानी व्यक्ति विषय-भोगो को उपादेय समझता है और भले ही वह उन्हे भोग न सके, फिर भी भोगने की इच्छा रखता है। उनमे आसक्ति रखता है। परिणाम यह होता है कि ज्ञानी पुरुष सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करके मुक्ति प्राप्त कर लेते है और अज्ञानी जीव कर्मों का भार लादे हुए जन्म-मरण के चक्र मे फँसे रहते हैं। शास्त्र मे कहा है —

बालाण अकाम तु, मरण असइं भवे।
पडियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सइं भवे ॥

—उत्तराध्ययन, ५-३

अर्थात् अज्ञानी पुरुषो का अकाम-मरण बार बार होता है और ज्ञानी पुरुषो का उत्कृष्ट सकाम मरण एक बार होता है।

ज्ञानी और अज्ञानी के जीवन मे जितना भेद होता है उतना ही उनकी मृत्यु मे भी होता है। अज्ञानी व्यक्ति मृत्युकाल आने पर हाय-हाय करता है और सोचता है—'मैं अपनी बडे कष्ट मे उपार्जन की हुई सुख-सामग्री मे विलग हो रहा हूँ। हाय, मेरे अत्यत प्रिय पारिवारिक जन मुझसे बिछुड रहे है, मेरी अभिलाषाएँ अपूर्ण ही रह गई और सारी तमन्नाएँ मिट्टी मे मिल गई।"

इस प्रकार खेद दु ख शोक तथा घोर पश्चात्ताप के कारण अत्यन्त विकल होकर वह प्राणत्याग करता है और इसी कारण उसे पुन पुन ससार मे जन्म-मरण करना पडता है। क्योकि जब तक मनुष्य की कामनाओ का अन्त नही हो जाता, तब तक जन्म-मरण के प्रवाह का भी अत नही हो सकता।

ज्ञानी की स्थिति भिन्न प्रकार की होती है। वह जानता है कि मृत्यु कोई असाधारण वस्तु नही है। वह एक अत्यत साधारण क्रिया ही है। जैसे पुराना वस्त्र उतार कर फेंक दिया जाता है और नया वस्त्र धारण किया जाता है, उसी प्रकार वृद्धावस्था से जर्जर हुए शरीर को त्याग कर पुन नवीन जन्म प्राप्त हो जाता है। गीता मे भी कहा है —

वासासि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा,-
न्यन्यानि सयाति नवानि देही ॥

(अ० २-२२)

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रो को त्याग कर दूसरे नये वस्त्रो को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को त्याग कर दूसरे नये शरीर को प्राप्त कर लेता है।

ऐसे विचारो के कारण ज्ञानी जन मृत्यु की भयकरता को जीत लेते है। वे मृत्यु का सामना अत्यन्त निर्भयता पूर्वक करते हैं। निर्भयता ज्ञानियो का प्रथम और महान् लक्षण है। वे मृत्यु मे तनिक भी भयभीत न होते हुए कहते है —

जिस मरने से जग डरे, मेरे मन आनन्द।
मरने ही ते पाइये, पूरन परमानन्द ॥

जगत् के अज्ञानी व्यक्ति जिस मृत्यु के स्मरण मात्र से ही कांपते है, ज्ञानी पुरुष उसी का निर्भयता पूर्वक सामना करते है। और उसके निमित्त से परमानन्द की प्राप्ति की आकाक्षा रखते है। जिस प्रकार एक कृषक अपने खेत

के पकने पर आनन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष के हृदय मे भी अपना जीवन रूपी खेत पक जाने पर एक प्रकार का उल्लास होता है। इस प्रकार ज्ञानवान् अपने मन, वचन तथा कार्य के अनिष्ट व्यापारो को रोक कर अपनी आत्मा का गोपन करते है। इन्द्रियो का और मन का दमन करके आसक्ति रूपी कर्मस्रोत को बन्द करने मे समर्थ होते है।

भर्तृहरि ने इसीलिये कहा है कि ससार मे सबसे बडा धन विद्या प्राप्त करना है किन्तु विद्या अथवा ज्ञान सम्यक्त्व सहित होना चाहिये। तभी ज्ञान की सार्थकता है और तभी वह समीचीन माना जा सकता है।

श्लोक मे आगे बताया है "किमसुख? प्रवासगमनम्" अर्थात्—कष्ट क्या है? परदेश जाना। घर मे सब प्रकार की सुख-सुविधा रहती है। दिनचर्या का नियमित रूप से पालन हो सकता है। सभी आवश्यक सामग्री प्रस्तुत रहती है। किन्तु घर छोडकर बाहर निकलने पर यह सब सुविधा कहाँ? अधिक से अधिक सम्पन्न मनुष्य को भी परदेश मे कष्ट ही उठाना पडता है। कहावत है— 'परदेश कलेश नरेशन को।' परदेश मे राजाओ को भी कष्ट हुए बिना नही रहता।

भर्तृहरि ने जो मत व्यक्त किया है उससे असहमत होना कठिन है, फिर भी इस सबध मे दूसरा दृष्टिकोण भी समझने योग्य है। देश विदेशो का भ्रमण करने से मनुष्य की ज्ञानवृद्धि होती है, और साथ ही मनोरजन भी, अपने ही गाँव अथवा शहर मे रहनेवाला व्यक्ति अन्य स्थानो के सुन्दर, मनोहारी तथा चित्त को लुभानेवाले सौन्दर्यपूर्ण प्राकृतिक दृश्यो का अवलोकन नही कर पाता। स्कूल तथा पाठशालाओ मे पढकर मनुष्य जितना ज्ञान प्राप्त करता है, उसकी अपेक्षा अनेक गुना ज्ञान प्रकृति स्वय प्रदान करती है। इतिहास को देखते है तो मालूम होता है कि प्राचीनकाल से ही एक देश के मनुष्य दूसरे देश मे आया-जाया करते थे। कुछ ज्ञान प्राप्ति के लिये, कुछ व्यापार के लिये, कुछ दूसरे देशो की सभ्यता, सस्कृति तथा धर्म की जानकारी करने के लिये और कोई-कोई धर्म का प्रचार करने के लिए।

पुराने समय मे चीन से फाहियान तथा ह्वेनसाग नामक दो व्यक्ति भारत के तक्षशिला तथा नालदा मे स्थित महाविद्यालयो मे शिक्षा प्राप्त करने आए थे। आज भी भारत के अनेक व्यक्ति अन्य देशो मे तथा अन्य देशो के शिक्षार्थी भारत मे ज्ञानप्राप्ति के हेतु आया-जाया करते है। अनेक धनी व्यक्ति तो सिर्फ मनोरजन तथा जानकारी के लिये एक देश से दूसरे देश को जाते है।

भारत धर्मप्रधान तथा प्राकृतिक सौन्दर्य से युक्त मनोहर देश है। विदेशो मे अनेक यात्री यहाँ प्रतिवर्ष आते हैं और भ्रमण करके अतीव आनन्द का अनुभव करते हैं। भारत मे 'काश्मीर' पृथ्वी पर स्वर्ग के नाम से विख्यात है। आगरा मे 'ताजमहल' विश्व का अद्भुत स्मारक माना जाता है जिसे देखकर दर्शकगण भारतीय कलाकौशल की मुक्त कठ से प्रशसा करते है।

कहने का तात्पर्य यही है कि प्रवास करना यद्यपि कष्टकर है, उसमे अनेक प्रकार की असुविधाए है, फिर भी अनेक दृष्टियो से यह अनिवार्य और लाभप्रद भी है। भर्तृहरि के जमाने मे प्रवास मे जो कष्ट थे, आज बहुत कम हो गए हैं। साधनो की अनुकूलता और प्रचुरता ने प्रवास को अब कम से कम कष्टप्रद बना दिया है।

श्लोक मे आगे कहा गया है—"राज्य किमाज्ञाफलम्।" राज्य क्या है? जहाँ राजा की आज्ञा का पालन होता हो। जिस राज्य की जनता राजा की आज्ञा का पालन न करती हो वह राजा, राजा नही कहला सकता। राजा अपने राज्य का आनद तभी उठा सकता है जब उसके देश की जनता उसका अनुशासन मानती हो।

वैसे जनता अनुशासन मे रहे तथा राजाज्ञा का पालन करे इसके लिये राजा को भी पहले 'राम' की तरह राजा बनना आवश्यक है। जब तक राजा के हृदय मे अपनी जनता के प्रति वात्सल्य नही होगा, वह प्रजा को अपनी सन्तानवत् नही मानेगा, तब तक जनता भी राजा की आज्ञा मे नही चल सकेगी। अत्याचारी राजा के राज्य मे सदा विद्रोह की आशका बनी रहती है। जिस राजा को अपने देशवासियो को सुखी और प्रसन्न रखने की कला आती हो, जो उदार करुणाभाव से प्रजा का पालन करे, अन्याय और अधर्म का प्रतिरोध करे, प्रजाजीवन मे सुख-शान्ति की प्रतिष्ठा करे और जनकल्याण के लिए ही शासन का उत्तरदायित्व वहन करे, वह राजा इहलोक और कहते हैं कि परलोक मे भी सुख प्राप्त करता है। अन्यथा वह कही भी सुख का अनुभव नहीं कर सकता। तुलसीदासजी ने 'मानस' मे कहा है —

> जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
> सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

जिस राजा के राज्य मे प्रजा दुखी रहती है वह राजा नरक का अधिकारी होता है।

इसके विपरीत जिस राजा के राज्य मे प्रजा सरोवर मे कमलो की

भांति विकसित होती रहती है वह अपनी शुभ भावना के कारण पुण्य का भागी होता है और उसका नाम अमर हो जाता है। कहा जाता है कि आदर्श राजा कुलीन पुरुषो का कुल है और प्रजा के लिये माता तथा पिता के समान होता है। सक्षेप मे वह अपनी प्रजा का सब तरह से हित-साधन करनेवाला होता है। यहाँ तक कहा गया है —

बुद्धिशस्त्र प्रकृत्यङ्गो, घनसवृत्तिकञ्चुक ।
चारेक्षणो दूतमुख पुरुप कोपि पार्थिव ॥

अर्थात् बुद्धि ही जिसका शस्त्र है, सेना अमात्य आदि राज्याङ्ग ही जिसके अग हैं, दुर्भेद मन्त्र की सुरक्षा जिसका कवच है, गुप्तचर जिसके नेत्र है, सदेशवाहक दूत ही जिसका मुख है, इस प्रकार का राजा कोई विशिष्ट पुरुप ही होता है।

जब तक राजा प्रजा को अपने परिवार के प्रिय सदस्यो के रूप मे नही मानता, तब तक प्रजा के प्रति उसके हृदय मे प्रेम नही हो सकता और ऐसी अवस्था मे प्रजा उसकी आज्ञा का पालन करती रहे यह सभव नहीं होता।

महात्मा गाधी इस पृथ्वी पर राम-राज्य स्थापित करने के ही प्रयत्न मे सदा रहे। वे रामराज्य को धार्मिक तथा राजनैतिक दोनो ही दृष्टिकोणो से परमावश्यक समझते थे। वे कहते भी थे-धार्मिक दृष्टिकोण से रामराज्य पृथ्वी-पर ईश्वरीय राज्य कहा जा सकता है। राजनीतिक दृष्टि मे रामराज्य एक ऐसा पूर्ण प्रजातत्र राज्य है, जहाँ अधिकार, वर्ण, स्त्री तथा पुरुप के विभेद पर आश्रित असमानताएँ तिरोहित हो जाती हैं। इस प्रजातत्र मे भूमि तथा राज्य-सत्ता की अधिकारिणी प्रजा ही है।

वास्तव मे जहाँ राजा राम के सदृश हो और प्रजा सच्चे हृदय मे उसकी आज्ञा का पालन करनेवाली तथा अनुशासन मे रहनेवाली हो उसी राज्य मे सुख का साम्राज्य होता है। वही राज्य, राज्य कहला सकता है।

जैन-धर्म का प्राण-'अहिंसा'

भारतवर्ष के विभिन्न धर्मों पर जब हम तुलनात्मक विचार करते है तो विदित होता है कि उनमे बहुत कुछ समानताएँ हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, और ब्रह्मचर्य को सभी धर्म समान रूप से महत्व देते हैं। फिर भी इसमे सन्देह नही कि जैन-शास्त्रो मे अहिंसा का जैसा सर्वांगीण, विशद, प्रभावपूर्ण तथा व्यावहारिक विवेचन किया गया है वैसा किसी अन्य धर्मशास्त्र मे नहीं मिलता।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि जैनाचार की मूल भित्ति अहिंसा ही है। इस कथन मे तनिक भी अतिशयोक्ति नही है कि जैन-धर्म का प्राण अहिंसा ही है। दूसरे शब्दो मे हम यह भी कह सकते है कि जैन-धर्म का दूसरा नाम ही अहिंसाधर्म अथवा दयाधर्म है। जैनाचार के विषय मे भगवान् महावीर ने कहा है —

> एव खु नाणिनो सार, ज न हिंसइ किंचण।
> अहिंसा समय चेव, एतावन्त वियाणिया॥
>
> —सूयगडाग सूत्र अ० ११ गाथा १०

जैनाचार के प्रवर्तको ने अहिंसा का सिर्फ विवेचन ही नही किया है प्रत्युत उसको स्वय आचरण मे लाकर उसकी व्यवहार्यता भी प्रमाणित कर दी है। अनेकानेक जैन सन्त अहिंसा के उस रूप का अपने जीवन मे आचरण करते आए हैं और वर्तमान मे कर रहे हैं। अतएव उसकी व्यावहारिकता के विषय मे कोई भ्रम नही रहना चाहिये।

अन्य धर्मावलम्बियो ने प्राय अहिंसा को कायिक रूप ही दिया है अर्थात् शरीर के द्वारा किसी जीव का वध न करने को अहिंसा माना है। किन्तु जैन-धर्म ने वचन और मन मे भी हिंसा न किये जाने का विधान बना कर और क्रोधादि विकार भावो की उत्पत्ति को भी हिंसा कहकर इसे आत्मिक रूप तक पहुँचा दिया है। अन्य धर्मो ने अहिंसा की सीमा मनुष्यजाति तक

अथवा कुछ और बढकर पशु-पक्षियो तक मानी है । किन्तु जैन-धर्म मे अहिंसा की कोई सीमा नहीं है। यहाँ विश्व के समस्त चराचर जीवों की हिंसा का निषेध है।

इस व्यापक विधान के कारण अनेक व्यक्ति अनेक प्रकार के आक्षेप करते है। कुछ व्यक्ति कहते है कि जैन-धर्म ने अहिंसा की मर्यादा इतनी बढा दी है कि वह व्यवहार मे लाई ही नही जा सकती। और अगर व्यवहार मे लाने की कोशिश की गई तो जीवन के समस्त व्यापारो को और समस्त क्रियाओ को बद करके मृत्यु का आह्वान करना पडेगा।

मगर यह अहिंसा के अन्तस्तत्त्व को न समझने का परिणाम है। जैन-धर्म मे साधको की अनेक श्रेणियाँ हैं और वे अपने सामर्थ्य के अनुसार ही अहिंसा का पालन करते हैं। मुनिजन सम्पूर्ण अहिंसा का पालन करते है और गृहस्थ अपने सामर्थ्य के अनुसार देश-अहिंसा का। गृहस्थ के लिये देश-अहिंसा का विधान किया गया है जिसे अहिंसाणुव्रत कहते हैं। इसकी भी बहुत-सी कोटियाँ हैं। जो जिस कोटि की अर्थात् जितनी मात्रा मे भी अहिंसा का पालन कर सकता है, करता है। यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक मनुष्य पूर्ण रूप से ही अहिंसा का पालन करे। हलवाई के यहाँ कई मन मिठाई बनी हुई रहती है, किन्तु एक भूखा व्यक्ति यह विचार करके दु खी और परेशान हो कि मेरा पेट तो छोटा है और मिठाइयाँ इतनी बहुत हैं, अब मैं कैसे खाऊँ। तो यह उसकी भयकर भूल ही है। उस व्यक्ति को चाहिये यह कि वह जितनी खा सके, खाये।

यही विचार अहिंसा का पालन करने वाले व्यक्ति को करना चाहिये कि मै यथाशक्य अहिंसा का जितना पालन कर सकूं उतना करूँ। सम्पूर्ण रूप से अहिंसा का पालन न कर पाने के कारण वह तनिक भी उसका पालन न करे, इसे मूर्खता के अलावा और क्या कहा जा सकता है ?

अहिंसा का पालन करने पर ससार के समस्त कार्य रुक जाते हैं, यह विचार भी भ्रमात्मक है। अगर हम इतिहास को उठाकर देखते हैं तो मालूम होता है कि अनेक राजा और महाराजा अपने राज्यों का सचालन करते थे और साथ ही साथ अहिंसा व्रत का पालन भी करते थे। इसका कारण यही है कि वे सम्पूर्ण अहिंसा का नही वरन् देश-अहिंसा का व्रत ग्रहण करते थे। दोषी को दड दिये जाने का वे त्याग नहीं करते थे तो भी निरपराध जीवों को दंड देने का अथवा उन्हे मारने का त्याग करते थे। इस प्रकार जब हम

अहिंसा को पैनी दृष्टि से देखते हैं तो ज्ञात हो जाता है कि जैन-धर्म की अहिंसा अव्यवहार्य और अनाचरणीय नही है।

जैन-धर्म मे प्रतिपादित अहिंसा पर दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि इस अहिंसा के प्रचार से मनुष्य कायर बन जाता है। अहिंसा के नारों ने ही भारत को दासता की जंजीरों मे जकड दिया था। यह भी कहा जाता है कि हिंसा को पाप मानकर उससे भयभीत होकर भारतीय अपने शौर्य को गँवा बैठे। इसी कारण यहाँ के मनुष्यो मे युद्ध करने की भावना नष्ट हो गई और विदेशियों ने सहज ही इस देश पर आक्रमण कर करके इसे अपने आधीन कर लिया।

यह आक्षेप भी निराधार और सर्वथा असत्य है। स्वयं इतिहास इस बात की असत्यता प्रमाणित कर देता है। वह साबित करता है कि जबतक इस देश मे अहिंसा का पालन करने वाले सम्राट चन्द्रगुप्त तथा अशोक जैसे शासक रहे तब तक यहाँ के मनुष्यों मे शौर्य और पराक्रम की तनिक भी कमी नही रही। उन शासकों ने तथा इस देश के मनुष्यो ने अपने देश की रक्षा के लिये शत्रुओं के साथ वीरतापूर्वक युद्ध किये। कभी भी कायरता के साथ अपना मस्तक नीचे नही झुकाया। कभी भी पीछे कदम नहीं रखा।

अहिंसा के परम उपासक महात्मा गांधी तो हमारे सामने ही अपना दिव्य उदाहरण रख कर गए है। गांधीजी ने अहिंसा के ही एक मात्र शस्त्र के द्वारा, रक्त की एक बूंद भी बहाए बिना, महान शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार का सामना किया और उसके पैर उखाड दिये। क्या गांधीजी को कोई कायर कह सकता है? भारत की सैकडो वर्षों की दासता को अहिंसा की असाधारण शक्ति ने ही तो खतम किया। गांधीजी का तो कथन था—"मेरा अहिंसा का सिद्धांत एक विधायक शक्ति है, इसमे कायरता तथा दुर्बलता के लिये कतई स्थान नही है।"

वास्तव मे अहिंसा मनुष्य को कदापि कायर नही बनाती। वह एक प्रचंड शक्ति है। उस शक्ति को अपनाने वाला निर्भीक, शूरवीर और प्रतापी ही बनेगा। कायर और डरपोक नही बन सकता। इसी महा-शक्ति के बारी सैकडों मनुष्यो ने भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम मे निर्भीकता पूर्वक अपने सीने पर गोलियाँ खाई हैं।

अगर संसार मे अहिंसा की भावना उठ जाए तो उस स्थिति मे संसार

की क्या हालत होगी ? निश्चय ही यह ससार नरक से भी वदतर हो जाएगा। सभी आपस मे ही लड मरेगे। सवल निर्वल को खा जाएगा।

इसीलिये जैनधर्म अहिसा को धर्म का प्रधान अग मानता है तथा मन, वचन और काया तीनो के द्वारा की जानेवाली हिसा का त्याग करने के लिये आदेश देता है। 'आचाराग सूत्र' मे इसका कारण वताया है —

सव्वे पाणा पियाउआ, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा, पिय-जीविणो, जीविउकामा, सव्वेसिं जीविय पिय।'

अर्थात् सभी जीवो को अपनी आयु प्रिय है। वे सभी सुख चाहते हैं। सभी दु.ख को अवाञ्छनीय समझते हैं। उन्हे वध अप्रिय है और जीवन प्रिय है।

एक वात ध्यान मे रखने की और है। वह यह कि जो व्यक्ति यह कहते हैं कि अहिसा जैनधर्म का ही सिद्धात है, वे वडी भूल करते है। साधारणत अहिसा के विना कोई भी धर्म नही टिक सकता। विश्व का प्रत्येक धर्म आत्म-शाति तथा विश्वशाति का उद्देश्य रखता है और यह उद्देश्य अहिसा के अभाव मे कभी भी पूरा नही हो सकता। ससार मे अगर शाति रह सकती है तो तभी जव मानव-मात्र मे दया, करुणा, क्षमा, परोपकार तथा सहानुभूति की भावना हो। और ये सव गुण अहिसा की भावना पर ही निर्भर होते हैं। प्रत्येक धर्म इन सभी गुणो का आदर करता है और इन्हे अपनाने का आदेश देता है। इसलिये वह अहिसा का समर्थक है। भगवद्गीता मे लिखा है :—

यस्मान्नोद्विजते लोको, लोकान्नोद्विजते च य ।

—गीता अ० १२ श्लो० १५

अर्थात् जो मनुष्य न किसी को दुख देता है और न किसी से दुखी होता है, वही ईश्वर का प्यारा होता है।

इस्लाम धर्म के शास्त्र कुरान मे लिखा है —

वल्लाहो ला युहिव्वुल जालमीन ।
अला इन्नजालमीन फी अजाविन मुकीम ॥

—सूरत आल इमरान, ६-३ तथा सूरतसूरा, ५-२

अर्थात् खुदा अत्याचारियो से कभी प्रेम नही करता। याद रक्खो, अत्याचारी लोग सदा के लिये कष्ट सहन करेंगे।

वौद्ध ग्रन्थ धम्मपद मे कहा है :—

न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति ।
अहिंसा सब्ब पाणान अरियोत्ति पवुच्चति ॥

—धम्मपद १९-१५

जो मनुष्य दूसरो को दुःख देता है, वह आर्य या भला नही हो सकता । आर्य कहलाने का अधिकारी वही है जो दूसरो को कष्ट नही देता ।

ईसाई मत के धर्मग्रथ इन्जील मे लिखा है —

'Thou shalt not kill'

अर्थात् तू किसी का भी वध नही करेगा ।

बन्धुओ ! मैंने कुछ ही धर्म शास्त्रो के कथन आपके सामने रखे है । धर्म तो अनेक है और सभी अहिंसा के पोषक है । सभी यह कहते है कि ससार के किसी भी प्राणी को दुख मत दो । समस्त धर्मों का सार ही यह है । एक कवि ने बडे ही सरल और सुन्दर भाव प्रकट किये हैं —

पोथियाँ सारी बाँच के बात निकाली दोय ।
सुख दिये सुख होत है, दुःख दीये दुःख होय ॥

वास्तव मे समस्त धर्मग्रन्थो का सार यही है कि किसी को दुख मत दो, किसी को भी दुःख और कष्ट देने पर कर्मों का बन्ध होगा और वे कर्म कालातर मे आत्मा को कष्ट पहुँचाएँगे ।

मानव मे अगर मानवता नाम की कोई वस्तु है तो वह अहिंसा ही है । अहिंसा के अभाव मे मनुष्य पशु मे भी हीन हो जाएगा, क्योकि हम पशुओ मे भी अहिंसा के अस्तित्व को देखते है । अगर पशुओ मे हम अहिंसा की भावना न पाते तो देखते कि पशु सभी एक-दूसरे को खा जाते । यहाँ तक कि अपनी सन्तान को भी नही छोडते । सिंह और व्याघ्र जैसे क्रूर और हिंसक पशु भी अपनी सन्तान पर उतना ही स्नेह रखते है, उतने ही स्नेह से उनका पालन-पोषण करते है जितने स्नेह से मनुष्य करता है ।

ऐसी स्थिति मे यह समझना कि अहिंसा का सिद्धात अव्यवहार्य है या हिंसा के अभाव मे जीवन स्थिर नही रह सकता, एक बडा भारी भ्रम है । बल्कि सत्य तो यह है कि अहिंसा के अभाव मे जीवन स्थिर नही रह सकता और विश्व का काम पल भर के लिये भी नही चल सकता । अहिंसा जीवन है और हिंसा मृत्यु, अहिंसा अमृत है और हिंसा विष ।

अनेक मासाहारी पुरुष यह सोचते हैं कि मनुष्य को शारीरिक बल को प्राप्त करने के लिये मासाहार करना आवश्यक है। यह भी कितना अज्ञानता-पूर्ण विचार है। पशुओ मे हम गवो और बैलो को देखते है। वे मास भक्षण न करके भी शारीरिक बल की दृष्टि से कितने धनी होते हैं, मनो बोझ ढोते है। वे भारी से भारी वजन मे लदी हुई गाडियो को लगातार घटो तक खीचते चले जाते है। तोता, कबूतर बन्दर आदि अनेक पक्षी भी बिना मास खाए कितने स्वस्थ तथा फुर्तीले होते है। वे सिर्फ फल या अन्न खाकर ही जीते है।

अनेक डॉक्टरो का कथन है कि जो मनुष्य मास का भक्षण करते हैं वे नाना प्रकार की उदर तथा दात सबधी बीमारियो से ग्रसित रहते है। क्योकि माँस मानव प्रकृति से विरुद्ध भोजन है। जब तक ऐसे व्यक्ति मासाहार का त्याग नही करते, स्वस्थ नही हो पाते। इस प्रकार मासाहार अत्यन्त अभक्ष्य और पापमय भोजन है। अत इसका सर्वथा त्याग करना चाहिये। किसी भी निर्दोष प्राणी का घात करके उसे उदरस्थ करना कितना क्रूर कार्य है, इसका मानव मात्र को ध्यान होना चाहिये।

मनुष्य मे अन्य प्राणियो की अपेक्षा प्रज्ञा की विशेषता है। बुद्धि तो अन्य प्राणियो मे भी होती है किन्तु मनुष्य मे जो प्रज्ञा है और जिसके द्वारा वह अपनी बुद्धिवैभव को विकसित करता है, ज्ञान की वृद्धि करता है, इसका अन्य पशु-पक्षी आदि प्राणियो मे अभाव होता है।

पशु-पक्षियो मे तथा अन्य जीव-जन्तुओ मे प्रज्ञा का अभाव होने के कारण उनका जीवन आज से सौ वर्ष पहले जैसा था वैसा ही आज भी है। सौ वर्ष पूर्व वे जिस प्रकार झुडो मे रहते थे, आज भी रहते है। पक्षी जिस तरह अपने नीड बनाया करते थे आज भी बनाते है। अपना उत्तरोत्तर विकास करने की क्षमता उनमे नही है।

मानव ने सौ वर्ष पूर्व की अपेक्षा आज न जाने कितनी उन्नति अपने भौतिक व्यापारो मे कर ली है। विज्ञान की मात्रा इतनी अधिक बढ गई है कि मनुष्य पक्षियो की तरह आकाश मे उडने लगा है और चन्द्रलोक मे जाकर रहने की कल्पना करने लगा है। किन्तु उसकी अहिंसा की भावना बाह्य प्रगति के मुकाबले मे तनिक भी नही बढी। जैसे-जैसे वह अपने सासारिक सुख-साधनो के बढाने मे प्रगति कर रहा है, वैसे-वैसे अगर अहिसा की भावना भी उसकी बढती जाती तो वह सहारक बनने के बदले तारक बन जाता। विज्ञान

बहुत बढा किन्तु अहिंसा नहीं बढी।

अहिंसा चारित्र का सबसे महान् और प्रथम अंग है। पापों में हिंसा को जिस प्रकार महापाप माना गया है उसी प्रकार अहिंसा को धर्म में 'परमो-धर्म' का स्थान मिला है। हिंसा दो प्रकार की बताई गई है। (१) द्रव्य-हिंसा और (२) भावहिंसा।

किसी जीव के प्राणों का घात हो जाना द्रव्य हिंसा और घात करने की अथवा उसे कष्ट पहुँचाने की भावना होना भाव हिंसा है। जहाँ भाव-हिंसा होती है वहाँ पाप कर्मों का बंध होना अवश्यंभावी है। जीव का घात न होने पर भी भावों में हिंसा करने की इच्छा होने पर प्राणी को पापों का भागी बनना ही पडता है। पाप कर्म हो जाने की अपेक्षा भी पाप करने की भावना होने से कर्म बंध अधिक होता है। कहा गया है —

यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी।

अर्थात् जिसकी भावना जैसी होती है उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है।

हिंसा न करने पर भी अगर हिंसा करने की भावना हो तो हिंसा से होने वाले पाप कर्म का बंध हो जाता है, जिसका फल आत्मा को अवश्य भोगना पडता है।

इसके विपरीत, द्रव्यहिंसा के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। अगर किसी जीव का घात करने की भावना न हो, हृदय में करुणा की लहरें उठ रही हों, फिर भी अकस्मात् किसी जीव का घात हो जाय तो भी प्रवृत्ति करने वाला जीवहिंसा के पाप का भागी नहीं होता। डाक्टर अगर किसी रोगी के फोडे का आपरेशन कर रहा हो, उसका कोई अंग काट रहा हो तो उस समय रोगी को कष्ट अवश्य होता है और कभी-कभी रोगी का प्राणान्त भी हो जाता है किन्तु डॉक्टर की भावना रोगी के प्राण लेने की अथवा दुख पहुँचाने की नहीं होती। अतः वह हिंसा के पाप का भागी नहीं बनता। डॉक्टर की भावना तो रोगी को स्वस्थ बनाने की होती है और वह सम्पूर्ण हृदय से उसको स्वस्थ बनाने का ही प्रयत्न करता है।

इससे साबित हो जाता है कि जो मनुष्य विवेक तथा सद्भावना पूर्वक क्रिया करता है उसके निमित्त से प्राणी का घात हो जाने पर भी वह पाप का भागी नहीं बनता और जिस व्यक्ति की भावना किसी जीव का घात करने की है वह अगर किन्हीं कारणों से उस जीव का घात न कर पाए, तब भी वह

अनेक मासाहारी पुरुष यह सोचते हैं कि मनुष्य को शारीरिक बल को प्राप्त करने के लिये मामाहार करना आवश्यक है। यह भी कितना अज्ञानता-पूर्ण विचार है। पशुओ मे हम गधो और बैलो को देखते हैं। वे मास भक्षण न करके भी शारीरिक बल की दृष्टि से कितने धनी होते है, मनो बोझ ढोते हैं। वे भारी से भारी वजन मे लदी हुई गाडियो को लगातार घटो तक खीचते चले जाते है। तोत, कबूतर बन्दर आदि अनेक पक्षी भी बिना मास खाए कितने स्वस्थ तथा फुर्तीले होते है। वे सिर्फ फल या अन्न खाकर ही जीते है।

अनेक डॉक्टरो का कथन है कि जो मनुष्य मास का भक्षण करते हैं वे नाना प्रकार की उदर तथा दात सबधी बीमारियो से ग्रसित रहते है। क्योकि मांस मानव प्रकृति से विरुद्ध भोजन है। जब तक ऐसे व्यक्ति मासाहार का त्याग नही करते, स्वस्थ नही हो पाते। इस प्रकार मासाहार अत्यन्त अभक्ष्य और पापमय भोजन है। अत इसका सर्वथा त्याग करना चाहिये। किसी भी निर्दोष प्राणी का घात करके उसे उदरस्थ करना कितना क्रूर कार्य है, इसका मानव मात्र को ध्यान होना चाहिये।

मनुष्य मे अन्य प्राणियो की अपेक्षा प्रज्ञा की विशेषता है। बुद्धि तो अन्य प्राणियो मे भी होती है किन्तु मनुष्य मे जो प्रज्ञा है और जिसके द्वारा वह अपनी बुद्धिवैभव को विकसित करता है, ज्ञान की वृद्धि करता है, इसका अन्य पशु-पक्षी आदि प्राणियो मे अभाव होता है।

पशु-पक्षियो मे तथा अन्य जीव-जन्तुओ मे प्रज्ञा का अभाव होने के कारण उनका जीवन आज से सौ वर्ष पहले जैसा था वैसा ही आज भी है। सौ वर्ष पूर्व वे जिस प्रकार झुडो मे रहते थे, आज भी रहते हैं। पक्षी जिस तरह अपने नीड बनाया करते थे आज भी बनाते है। अपना उत्तरोत्तर विकास करने की क्षमता उनमे नही है।

मानव ने सौ वर्ष पूर्व की अपेक्षा आज न जाने कितनी उन्नति अपने भौतिक व्यापारो मे कर ली है। विज्ञान की मात्रा इतनी अधिक बढ गई है कि मनुष्य पक्षियो की तरह आकाश मे उडने लगा है और चन्द्रलोक मे जाकर रहने की कल्पना करने लगा है। किन्तु उसकी अहिंसा की भावना बाह्य प्रगति के मुकाबले मे तनिक भी नही बढी। जैसे-जैसे वह अपने सासारिक सुख-साधनो के बढाने मे प्रगति कर रहा है, वैसे-वैसे अगर अहिंसा की भावना भी उसकी बढती जाती तो वह सहारक बनने के बदले तारक बन जाता। विज्ञान

बहुत बढ़ा किन्तु अहिंसा नहीं बढ़ी ।

अहिंसा चारित्र का सबसे महान् और प्रथम अंग है । पापों में हिंसा को जिस प्रकार महापाप माना गया है उसी प्रकार अहिंसा को धर्म में 'परमो-धर्म' का स्थान मिला है । हिंसा दो प्रकार की बताई गई है । (१) द्रव्य-हिंसा और (२) भावहिंसा ।

किसी जीव के प्राणों का घात हो जाना द्रव्य हिंसा और घात करने की अथवा उसे कष्ट पहुँचाने की भावना होना भाव हिंसा है । जहाँ भाव-हिंसा होती है वहाँ पाप कर्मों का बंध होना अवश्यभावी है । जीव का घात न होने पर भी भावों में हिंसा करने की इच्छा होने पर प्राणी को पापों का भागी बनना ही पड़ता है । पाप कर्म हो जाने की अपेक्षा भी पाप करने की भावना होने से कर्म-बंध अधिक होता है । कहा गया है —

यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी ।

अर्थात् जिसकी भावना जैसी होती है उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है ।

हिंसा न करने पर भी अगर हिंसा करने की भावना हो तो हिंसा में होने वाले पाप कर्म का बंध हो जाता है, जिसका फल आत्मा को अवश्य भोगना पड़ता है ।

इसके विपरीत, द्रव्यहिंसा के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता । अगर किसी जीव का घात करने की भावना न हो, हृदय में करुणा की लहरें उठ रही हों, फिर भी अकस्मात् किसी जीव का घात हो जाय तो भी प्रवृत्ति करने वाला जीवहिंसा के पाप का भागी नहीं होता । डॉक्टर अगर किसी रोगी के फोड़े का आपरेशन कर रहा हो उसका कोई अंग काट रहा हो तो उस समय रोगी को कष्ट अवश्य होता है और कभी-कभी रोगी का प्राणान्त भी हो जाता है किन्तु डॉक्टर की भावना रोगी के प्राण लेने की अथवा दुःख पहुँचाने की नहीं होती । अतः वह हिंसा के पाप का भागी नहीं बनता । डॉक्टर की भावना तो रोगी को स्वस्थ बनाने की होती है और वह सम्पूर्ण हृदय से उसको स्वस्थ बनाने का ही प्रयत्न करता है ।

इससे साबित हो जाता है कि जो मनुष्य विवेक तथा सद्भावना पूर्वक क्रिया करता है उसके निमित्त से प्राणी का घात हो जाने पर भी वह पाप का भागी नहीं बनता और जिस व्यक्ति की भावना किसी जीव का घात करने की है वह अगर किन्हीं कारणों से उस जीव का घात न कर पाए तब भी वह

हिंसा के पाप का भागी बनता है। कार्य से भी अधिक महत्व भावना का है। भावना ही मनुष्य को ऊँचा उठाती और भावना ही गिराती है। कहा भी गया है —

"मनसा कल्प्यते बन्धो मोक्षस्तेनैव कल्प्यते।"

— विवेकचूडामणि

अर्थात् जिस मन की शक्ति के द्वारा ससार का बधन किया जा सकता है, उसी मन की शक्ति के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति भी की जा सकती है।

स्वर्ग और नरक भी मन की भावनाओ मे ही निहित है। शुद्ध और पवित्र हृदय स्वर्ग के सदृश तथा कलुषित और कषाय-पूर्ण मन नरक के समान होता है। मनोबल इतना प्रबल होता है कि आधे क्षण मे ही उसके कारण सातवे नरक का बध हो जाता है और सिर्फ आधे क्षण मे ही कर्मों का सम्पूर्ण क्षय करके मोक्ष की प्राप्ति भी की जा सकती है। मन की शुद्ध तथा निर्मल भावनाओ मे बढकर ससार मे कोई शुभ क्रिया नही होती और न ही कोई पवित्र तीर्थ होता है। 'ब्रह्माण्ड पुराण' मे बताया गया है —

तीर्थानामपि यत्तीर्थं विशुद्धिर्मनस परा।"

—मन की भावनाओ की अत्यन्त उत्कृष्ट पवित्रता होना, यही सभी तीर्थों से बढकर तीर्थ है।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को अपनी भावना शुद्ध रखना चाहिये। स्वप्न मे भी किसी प्राणी का अहित करने का विचार नही करना चाहिये। यही सबसे बडा धर्म है और अहिसा का पालन करना है।

जैन-धर्म मे अहिंसा के पाँच अतिचार बताए गए है। बन्ध, बध, छविच्छेद, अतिभारारोपण तथा भक्तपानविच्छेद।

बन्ध का अर्थ है बाँधना। किसी पशु को अथवा मनुष्य को बाँधकर रखना हिंसा है। बधन से बधा हुआ प्राणी कष्ट का अनुभव करता है। अत किसी भी प्राणी को बधन मे रखना पाप है, हिंसा है। साथ ही यह भी ध्यान मे रखने की बात है कि बधन का अर्थ सिर्फ रस्सी अथवा लोहे की जजीर से बाँधना ही नही है बल्कि अनुचित रूप से किसी प्राणी की दु खावस्था का लाभ उठाना भी है।

आप लोगो मे से अनेक श्रीमन्त है। आप के घर पर नौकर-चाकर

क्या आप जानते हैं कि उनका निर्माण किस तरह होता है ? सभवत एक बार मैंने पहले भी बताया था कि गाय तथा बकरी आदि के निर्दोष तथा मासूम बच्छडो को बाँधकर जल्लाद गर्म पानी डाल डाल कर उन्हे पतली बेतो मे इतना पीटते है कि उनकी चमडी चिकनी और अत्यन्त नर्म हो जाती है। उसी चमडी के द्वारा ऐसी अनेक वस्तुओ का निर्माण होता है जिन्हे आप, आपकी सन्तान अथवा पत्नियाँ प्रसन्नतापूर्वक उपयोग मे लेती है।

बताइये ! ऐसी चीजो का उपयोग करने पर भी क्या आप कह सकते है कि हम हिंसा के भागी नही है ? अपने पैरो की रक्षा के लिये आप जो बढिया जूते पहनते है क्या आप जानते है कि वे जीवित प्राणियो को मारकर बनाए गए है ? इसलिये स्वय हिंसा न करने पर भी हिंसाजनक वस्तुओ का उपयोग करना हिंसा का भागी बनना अवश्य है और इनसे बचना आवश्यक है।

अहिंसा का चौथा अतिचार है 'अतिभार'। गाडी मे वजन भर दिया जाता है और उसे पशु खीचते है। यद्यपि बैल, घोडे तथा गधे काफी शक्तिशाली होते है और वे वजन ढोते हैं किन्तु हम देखते हैं कि अधिक लाभ के लोभ मे आकर मनुष्य उनकी सामर्थ्य से भी बहुत अधिक भार ताँगो अथवा गाडियो मे भर कर उन मूक पशुओ को ढोने के लिये बाध्य करते हैं।

यह भी कितनी क्रूरता है। इतना ही नही, आप अपने नौकरो से भी अधिक-से-अधिक काम लेने का प्रयत्न करते है। नौकरो की स्थिति तो एक प्रकार से पशुओ से भी गई-बीती होती है। क्योकि अपने पशुओ का तो आप बीमार पड जाने पर इलाज करवाते है किन्तु नौकर अगर बीमार पड जाता है तो उसकी चिकित्सा करवाना तो दूर आप उसकी तनख्वाह भी काट लेते है। तो क्या उन मनुष्यो की कीमत पशु से भी कम है ? ऐसा नही होना चाहिये। मनुष्य के हृदय में करुणा का निर्झर सदा प्रवाहित रहे ऐसी उसकी भावना होनी चाहिये। अपनी आत्मा के समान ही सभी प्राणियों की आत्मा है, ऐसा मानकर प्रत्येक मनुष्य को अन्य प्राणियो से व्यवहार करना चाहिये।

मैं यह मानता हूँ कि आप गृहस्थ है और सभी तरह के कार्य आप को करने अथवा कराने पडते है किन्तु अगर आप के हृदय मे करुणा है, विवेक है, तो आप दूसरो को कष्ट पहुँचाने मे बहुत कुछ कमी कर सकते है। तथा दूसरो के सहायक बन सकते हैं। अधिक कार्य होने पर अगर किसी नौकर का कार्य भी आप बँटा लें तो इसमे आप को कोई कष्ट नही होगा वरन् आत्मसतोष ही प्राप्त होगा।

एक बार धर्मराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया। उसमे कृष्ण भी गए। सबको कुछ-न-कुछ कार्य करते हुए देखकर कृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा—धर्मपुत्र ! मुझे भी कुछ कार्य बताइये।

युधिष्ठिर कहने लगे—भगवन् ! आप को हम क्या कार्य बतायें। आप तो हमारे लिये परम आदरणीय हैं। आप के योग्य तो हमारे पास कोई काम नही है। कृष्ण ने कहा—वाह ! मैं आदरणीय हूँ तो क्या अयोग्य भी हूँ ? मैं भी कार्य कर सकता हूँ। धर्मराज ने कहा—तो आप स्वय ही अपने लिये कार्य ढूंढ लीजिये। कृष्ण ने तब वहाँ भोजन करने वालो की जूठी पत्तलें उठाने का और भूमि लीपने का कार्य करना शुरू कर दिया।

सज्जनो ! महान् व्यक्तियो को कभी भी अपने हाथो से कार्य करने मे शर्म अथवा सकोच नही होता। आज आप लोगो मे तो कोई छोटा-सा भी कार्य करने के लिये कहा जाए तो आप उसमे अपनी मानहानि मानते हैं। किन्तु आप को मालूम होना चाहिये कि गाधीजी स्वय अपनी वस्ती मे सफाई किया करते थे। वे स्वय अपने हाथो से अपने लिये आटा भी पीस लेते थे। एक बार एक प्रकाण्ड विद्वान महात्माजी से मिलने आए। उन्होने काफी समय तक आत्म-प्रशसा की। गाधीजी शातिपूर्वक सुनते रहे।

अन्त मे सज्जन गाधीजी से बोले— मेरे योग्य कोई कार्य हो तो कृपया वतलाइये।

गाधीजी ने पूछा—आप को वक्त है ? उन्होने उत्तर दिया—जी हाँ बहुत वक्त है। गाधीजी ने फौरन उनसे कहा—आप गेहू पीसने मे हमारी मदद कीजिये। वे विद्वान महानुभाव उसी क्षण गाधीजी के साथ गेहूँ पिसवाने बैठ गए।

वास्तव मे ऐसा जीवन मनुष्य का हो तभी वह आत्मदर्शन कर सकता है तथा औरो के लिये आदर्श रूप वन सकता है और वडी भारी मात्रा मे हिंसा से बच सकता है।

अहिंसा का पाँचवाँ अतिचार है—"भत्तपाण-विच्छेद।" इसका अर्थ है किसी के खाने पीने मे अन्तराय (वाधा) डालना। मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी को भी अपना आहार लेते समय अगर कोई अन्तराय डाले तो उन्हे दुःख होता है। इसलिये उनके खाने के समय भी मनुष्य को कभी वाधा नही देनी चाहिये। किसी भी व्यक्ति की आजीविका छीनना भी उसके भोजन

मे अन्तराय देना है। तथा अकाल अथवा देश की कमजोर स्थिति के समय, जब कि गरीबो को पेट भर भोजन न मिलता हो, अपने बडे-बडे गोदामो मे अन्न का सचय करके रखना भी अनेक गरीबो के पेट पर लात मारना है और यह पाप भी इस अतिचार मे सम्मिलित है।

महान व्यक्ति किसी भी अन्य प्राणी को भूखा नहीं देख सकता। एक बार सत नामदेव खाना बना रहे थे। रोटियाँ बना चुकने पर वे किसी काम से इधर-उधर कहीं चले गए। वापिस आकर उन्होने देखा कि एक कुत्ता आया और कुछ रोटियाँ उठाकर भागने लगा। नामदेव उस कुत्ते के पीछे घी की कटोरी लिये हुए दौडे और कहने लगे—भगवन ! रोटियाँ रूखी है, चुपड नही पाई, तनिक ठहर जाइये। घी लगा दूँ फिर भोग लगाइयेगा।

कहने का मतलब यही कि सच्चे सत प्रत्येक प्राणी को सिर्फ आत्मवत् ही नही वरन निश्चय मे परमात्मा के रूप मे मानते है। वे यह नही देख सकते कि विश्व का एक भी प्राणी भूखा रहे। बस इसी को अहिंसा का पालन करना कहते है। किन्तु इसके विपरीत हीन और अधम व्यक्ति अपने भोजन मे से बची हुई वस्तु भी अगर कोई और खाए तो बर्दाश्त नही करते।

कहते हैं—एक बार एक सेठजी अपनी बृहत् अट्टालिका के झरोखे मे बैठे हुए केले व अन्य फल खा रहे थे, और छिलके नीचे फेकते जा रहे थे।

इतने मे एक पागल सा दिखाई देनेवाला व्यक्ति उधर से गुजरा। वह भूखा था अत सेठ के फेंके हुए छिलको को खाने लगा। यह देखकर सेठ के नौकरो ने उसे डाँटा और भाग जाने के लिये कहा।

किन्तु पागल भागा नही, अत नौकरो ने उसे बेरहमी से पीटना शुरू कर दिया। बडे आश्चर्य की बात थी कि पागल जितना ज्यादा पिटने लगा वह उतने ही जोर जोर से हँसने लगा। हँसी की आवाज सुनकर सेठ की नजर उस पागल की तरफ चली गई। उन्होने उसे बुलाया और हँसने का कारण पूछा।

वह व्यक्ति बोला—सेठजी ! इसमे ताज्जुब करने की कोई बात नही है। मैं तो यह विचारकर हँस रहा था कि जूठे छिलके खाने वाले पर इतनी मार पडती है तो गूदा खानेवालो पर आगे जाकर कितनी मार पडेगी।

सेठजी यह उत्तर सुनकर सन्न रह गए और उससे क्षमा माँगने लगे।

वास्तव मे इस ससार में आत्मा सिर्फ अपने इस जन्म के शरीर को

लेकर आती है । धन, पैसा, महल, मकान कुछ भी उसके साथ नही आता। जो कुछ भी इस सृष्टि मे दिखाई देता है वह सब जगत के समस्त प्राणियो के उपयोग के लिये है। अत उन वस्तुओ मे मे जो व्यक्ति बटोर कर बहुत सा हिस्सा स्वय अपने अधिकार मे कर लेता है और अनावश्यक सगह करता है, वह दूमरो की रोटी और सुख छीनने के पाप का भागी बनता है। समार के मारे भोज्य अथवा भोग्य पदार्थ सविभागपूर्वक उपयोग मे लाने के लिये है। दूसरो को अभावग्रस्त बनाकर स्वय आवश्यकता से अधिक सचय करना उचित नही।

ऐमा करनेवाला व्यक्ति हिंसक है। इमलिये प्रत्येक मानव को सभी हिंसात्मक क्रियाओ से यथाशक्य बचते हुए अपनी आत्मा को निर्मल और सरल बनाना चाहिये।

बधुओ! आशा है आपने अहिसा के इन अतिचारो को भलीभाँति समझ लिया होगा। यह भी जान लिया होगा कि जैनधर्म की अहिंसा अव्यवहार्य नही है वरन् बडे अच्छे तरीके मे व्यवहार मे लाई जा सकती है।

अहिसा अगर जीवन मे उतारने योग्य न मानी जाए तो और उसके सहारे जीवनयात्रा करना असभव माना जाए तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह व्यर्थ है और जीवन मे उसका कोई मूल्य नही है। किन्तु जैमा कि अभी मैंने कहा था, अहिसा के अभाव मे जीवन नही निभ सकता। जहा तक राज्यशासन का सबध है, कई सदियो तक अहिसा व्यवहार मे लाई जाती रही है। अनेक सम्राटो ने देश-अहिंसा का पालन किया और भगवान महावीर तथा गौतम जैसे महान पुरुषो ने पूर्ण रूप से अहिसा का पालन किया। सिर्फ सतो ने ही नहीं वरन प्राचीन समय मे आनन्द श्रावक जैसे गृहस्थो ने और वर्तमान मे महात्मा गाधीजी जैसे लोकनेता ने अहिसा को जीवन मे उतार कर दिखा दिया कि उसकी शक्ति कितनी महान है। भारत की राज्य-सत्ता को बदल देना कोई हँसी-खेल नही है किन्तु अहिसा के ब्रह्मास्त्र ने वह भी करके सिर्फ भारत के ही नही वरन ससार के समस्त देशो के निवासियो की आँखे खोल दी और उन्हे दाँतो तले अगुली दबाने को बाध्य कर दिया।

ऐसी स्थिति मे क्या ऐसी शकाएँ करना उचित है? कभी नही। अब तक अनेको साधको ने अहिसा को जीवन मे उतारकर व्यवहार मे लाने योग्य साबित किया है। किन्तु आज के व्यक्ति, जो एक दिन भी अहिमा का पालन करके नही देखते, अहिमा को अपने तर्कों से ही अव्यवहार्य बताते है। यह कितने आश्चर्य की बात है? कितनी भारी भूल है?

अहिंसा के बिना तो हमारे जीवन का एक कदम भी अग्रसर नहीं हो सकता। इसके अभाव में इन्सान हैवान बन जाएगा और प्रत्येक दूसरे से संघर्ष करता चलेगा। और तब वह स्थिति कैसी होगी जरा इसकी कल्पना कीजिये। किसी भी व्यक्ति को अन्य के दुःख-दर्द, भूख प्यास तथा किसी भी प्रकार के अभाव का अहसास नहीं होगा। सब सिर्फ अपने लिये जीएँगे। तब ऐसे देश का किस तरह कल्याण होगा? और ऐसे जीवन की यशो-गाथा कौन सी पीढ़ी गाएगी?

अहिंसा धर्म का प्राण है और उसके बिना मनुष्य निरा पशु है। मानव के व्यवहार से ही अहिंसा की कसौटी होती है। जब कोई व्यक्ति इस कसौटी पर खरा उतर जाता है तो दूसरे व्यक्ति स्वतः ही वैर-भाव भूलकर उसके समीप आ जाते हैं। स्वामी शिवानन्द का कथन है :—

"मनसा, वाचा, कर्मणा, कभी किसी को किसी प्रकार कष्ट मत पहुँचाओ। क्रोध को क्षमा से, विरोध को अनुरोध से, घृणा को दया से, द्वेष को प्रेम से और हिंसा को अहिंसा की भावना से जीतो।"

वचन और कर्म में हिंसा तभी आती है जब मन में हिंसा की भावना हो। हिंसा का मूल मन में ही होता है। इसलिये भावहिंसा न हो इसके लिए अत्यन्त सतर्क रहने की आवश्यकता है।

जब मनुष्य के हृदय में किसी के प्रति द्वेष जाग उठता है तो समझना चाहिए कि हिंसा का बीज वपन हो गया। असत्य बोलने का संकल्प, चोरी करने का संकल्प, क्रोध, मान, माया तथा लोभ का संकल्प और भावनाएँ हृदय में आई तो मानना चाहिये कि हिंसा का वृक्ष वृद्धि पा रहा है।

ये समस्त अशुभ भावनाएँ भाव-हिंसा कहलाती हैं, मन को अपवित्र बनाती हैं, और कर्मों के बंध का कारण बनती हैं :—

'परिणामो बन्धो परिणामो मोक्ष. ।"

कुत्सित विचारों के कारण से कर्मों का बंधन होता है और सात्विक विचारों के कारण कर्मों से मुक्ति हुआ करती है।

इसलिये भाव-हिंसा जघन्य और सर्वथा त्याग करने योग्य है। भाव-हिंसा से सर्वप्रथम हिंसक का ही नाश होता है। आपको क्रोध आया और उस क्रोध को दूसरों पर उतारने से पहले ही आपके मन में आग लग जाती है। दूसरों के सर्वनाश की भावना आपके हृदय में आती है। किन्तु दूसरों का

सर्वनाश तो अगर वह शक्तिशाली हुआ तो आप नही कर पाएंगे किन्तु आपकी आत्मा तो कषाय की आग मे जल ही जाएगी।

बच्चे जब एक दूसरे से झगड पडते हैं तो प्राय हाथ मे पत्थर, रेत अथवा कीचड लेकर दूसरो पर उछालने के लिये दौडते है। किन्तु बच्चे सभी चपल होते हैं और कीचड उछालने वाले की पहुँच मे दूर भाग जाते हैं। परिणाम यह होता है कि, वह बालक औरो पर कीचड तो नही उछाल पाता किन्तु उसके ही हाथ गदे और अपवित्र हो जाते हैं।

अविवेकी मनुष्य भी इसी प्रकार बुरे सकल्पो को हृदय मे जन्म देकर अपने अन्त करण को मलिन बना लेते है। सद्‌गुण उनके हृदय से विलीन हो जाते है। परिणाम यह होता है कि वह क्षण-क्षण मे हिंसा के पाप का भागी बनता रहता है। इसलिये मनुष्य को भलीभाति अहिंसा का महत्व समझना चाहिये और हिंसा से बचना चाहिये। अहिंसा को समझने के लिये हमे उसके दो पहलू समझने होगे। एक तो है बाह्य और दूसरा आतरिक।

बाह्य हिंसा तो मनुष्य की समझ मे सहज ही आ जाती है। किसी की हत्या करना, उसे कष्ट देना, उसके मन को दुखाना अथवा उसकी रोजी को छुडाकर उसका पेट काटना बाह्य हिंसा है। और आतरिक हिंसा ऐसी है जो कि सरलतापूर्वक मानव की समझ मे नही आती।

आतरिक हिंसा वह है जिसके कारण मनुष्य अपनी आत्मा को मलिन बनाता हुआ उसे जन्म-जन्मान्तर के लिये आवागमन के चक्र मे फसा देना है। दूसरे शब्दो मे वह आत्म-हत्या करता है, आत्मा को कष्ट पहुँचाता रहता है। आतरिक हिंसा ऐसी होती है जो क्रोध, मान, माया, लोभ तथा वासना के रूप मे हमारे अन्दर ही चलती रहती है। आपके पास धन की वृद्धि होती है तो आप लोभ और अहकार से भर जाते हैं। दूसरे के पास वैभव बढ़ा हुआ देखते हैं तो ईर्ष्या से जल जाते हैं। किसी ने दो शब्द आपकी शान के खिलाफ कह दिये तो क्रोध से बेमान हो जाते हैं और एटमबम की तरह आपके मुख से गालियाँ निकलने लगती हैं जो दूसरो के हृदय को बीध देती है। किन्तु इतने पर भी आपको सतोष नही होता और अपने अपमान का बदला लेने के लिये न जाने कितने समय तक आप योजनाए बनाते रहते हैं, और निरतर क्रोध की आग मे अपनी आत्मा को जलाते रहते हैं। बताइये क्या यह आत्म-हत्या अथवा आतरिक हिंसा नही है? इस प्रकार जैनधर्म के अनुसार हिंसा के दो प्रवाह माने जाते हैं—एक तो वह जो बाहर बहता है और दूसरा वह जो अदर प्रवाहित

होता है। इसलिये मनुष्य को इन दोनो हिंसाओं का सर्वथा त्याग करना चाहिये। एक मात्र अहिंसा ही समस्त शुभ क्रियाओं और समस्त सद्गुणों का मूल है। कहा भी है —

अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दम.।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तप ॥
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा पर फलम्।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्।

अर्थात् अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम दम है। अहिंसा परम दान है, अहिंसा परम तप है। अहिंसा ही परम यज्ञ है और अहिंसा ही यज्ञ का फल है। अहिंसा परम मित्र है और अहिंसा ही परम सुख है।

आशा है आप जैनधर्म के मूल अहिंसा को भली-भांति समझ गए होंगे।

ॐ शांति ।

卐

वशीकरण मत्र—वाणी

विश्व का प्रत्येक मानव चाहता है कि अन्य सभी मनुष्य उसका आदर करें, सम्मान करें, उसकी वात मानें तथा उससे प्रभावित हो। सक्षेप मे, वह अपना सिक्का प्रत्येक अन्य व्यक्ति पर जमाने की आकाक्षा रखता है। किन्तु सिर्फ चाहने मात्र से ससार मे कोई आकाक्षा पूरी नही होती। उसके लिये प्रयत्न करना पडता है।

दूसरो को प्रभावित करने के लिये, अथवा अपने वश मे करने के लिये वशीकरण मत्र को अपनाना अथवा सीखना आवश्यक है। दूसरे शव्दो मे उसे हम सद्गुण भी कह सकते है। सद्गुणो मे से एक महामत्र है 'मधुर वाणी'।

एक मनुष्य किसी महात्मा के पास गया और वोला—महात्मन्! आप के पास सैकडो व्यक्ति आते हैं। वे आपको इतना आदर-सम्मान देते हैं तथा आपसे प्रभावित होते हैं, इसका क्या कारण है? क्या आपको कोई वशी-करण मत्र सिद्ध है? ऐसा हो तो कृपया मुझे भी वह मत्र सिखा दीजिये। मैं भी मनुष्यो को वश मे करके अपना प्रभाव जमाना चाहता हूँ।

महात्माजी ने कहा—भाई! तुम्हारी बात सत्य है। मेरे पास इतने व्यक्ति आते हैं और मुझे मानते हैं, इसका कारण सचमुच ही एक महामत्र है जो मैं तुम्हे वताए देता हूँ।

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि, जलमन्न सुभाषितम्।
मूढै: पाषाणखण्डेषु, रत्नसज्ञा विधीयते।।

अर्थात् इस पृथ्वी पर तीन रत्न है। जल, अन्न तथा मृदु वचन। मूर्ख व्यक्ति पत्थर के टुकडो को रत्न कहते हैं किन्तु वे भ्रम मे रहते हैं।

अन्न तथा जल शरीर को कायम रखते हैं। इसलिये वे रत्न माने गए हैं। किन्तु शरीर को कायम रखकर दूसरो को सुख-शान्ति पहुँचाना अधिक महत्त्वपूर्ण है और मधुर वचन उसमे सहायक होते हैं। इसलिये इसे रत्नो मे

भी चिंतामणि रत्न माना गया है। दूसरो को वश मे करना तो मधुरभाषी व्यक्ति के बाये हाथ का खेल है। सुन्दर कवि ने वचनरूपी वशीकरण मत्र का प्रभाव बडे सुन्दर ढग से बताया है :—

वचन तें दूरी मिटे, वचन विरोध होय,
वचन तें राग बढे, वचन तें द्वेष जू।
वचन तें ज्वाला उठे, वचन तें शीत होय,
वचन तें मुदित, वचन ही ते रोष जू।
वचन तें प्यारो लगे, वचन तें दूर भागे,
वचन तें मुरझाए, वचन तें पोष जू।
सुन्दर कहत है, वचन को ये भेद ऐसो,
वचन तें बंध होय, वचन तें 'मोख' जू।

वास्तव मे कटु-वचनो के द्वारा उत्पन्न ईर्ष्या, द्वेष, वैर, विरोध तथा क्रोध आदि सभी को मृदु-वचन रूपी महा-मत्र अपने चामत्कारिक प्रभाव से प्रेम, अपनत्व, शाति तथा सतोष मे बदल देता है।

इतना ही नही, कवि ने तो यहाँ तक कहा है कि कटुवचनो के कारण एक मनुष्य महान कर्मो का बध करता है तो दूसरा मनुष्य मधुर वचनो का प्रयोग करते हुए अपनी आत्मा को इतनी उन्नत बना सकता है कि अत मे वह मोक्ष का अधिकारी बने।

मृदुभाषी व्यक्ति का मन अत्यन्त कोमल तथा करुणा के रस से आप्लावित रहता है। मधुरता का कोष मन मे ही सचित रहता है और वही से वह मधुरता, वाणी, दृष्टि तथा हाथो मे सचारित होती रहती है। मृदुता-युक्त व्यक्ति अपने हाथो से कभी किसी को पीडा नही पहुँचाता। उसके हाथ किसी को आश्रय देने के लिये, रक्षा करने के लिये तथा दूसरो के कष्टो का निवारण करने के लिये ही उठते हैं।

कोमल हृदय वाले व्यक्ति के सामने भले ही अगणित सूर्य एक साथ तपने लग जायँ, प्रलयकाल का भीषण तूफान आ जाए या ससार के सारे सागर इकट्ठे होकर क्षुब्ध हो उठें तब भी वह अशात नही होता और उसके मुख से कटु-वचनो का उच्चारण नही हो सकता। असख्य गालियाँ सुनकर भी वह महापुरुष उत्तेजित नही होता और समस्त कठिनाइयो को उपसर्ग समझकर सहन कर लेता है। वही कर्मो की निर्जरा करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है। कहा भी है—

वढता है उपशम भाव चित्त मे जैसे,
तप-वह्नि प्रज्वलित होती वैसे वैसे।
उपसर्गों को उपकारक जिन ने माना,
कर कर्म-निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना।
—शोभाचन्द्र 'भारिल्ल'

वास्तव मे मृदुता को हम मनुष्यता कह सकते हैं और कटुता को पिशाचता। मनुष्यता प्रेम, दया तथा मधुरता की त्रिवेणी होती है और जो भी इसमे अवगाहन करता है उसके समस्त सताप नष्ट हो जाते है। बुद्धिमान् पुरुष अनेकानेक पुण्यो के उदय से प्राप्त अपनी वाणी का दुरुपयोग नही करते, उलटे इसके द्वारा नवीन पुण्य का सचय करते है।

वाणी एक ऐसा दर्पण भी है जो मनुष्य के हृदय की श्रेष्ठता अथवा निकृष्टता का प्रतिविम्ब सामने उपस्थित कर देता है। उच्च हृदय के व्यक्ति के वचनो मे भी दूसरो के लिये स्नेह व सम्मान की भावना होती है। किसी दीन दरिद्र अथवा दोषी व्यक्ति का भी वह तिरस्कार नही करता। इसके विपरीत ओछे अथवा तुच्छ हृदय का व्यक्ति अहकार के कारण दूसरो का अपमान व तिरस्कार करने से नही चूकता, एक छोटे से उदाहरण से यह वात स्पष्ट हो जाएगी।

एक वार एक राजा की सवारी राजमार्ग मे होकर जा रही थी। उस रास्ते पर एक विपत्ति का मारा अधा व्यक्ति भी खडा था। सोच रहा था कि मैं महाराज से कुछ याचना करूँ, उनके राजमहल मे प्रवेश करने के वाद तो वहाँ उन तक पहुँचना मेरे लिये असभव होगा।

कुछ समय पश्चात् सवारी नजदीक आई। आगे आने वाले कुछ सिपाही थे। उनमे से एक वोला—अवे अधे! यहाँ क्यो खडा है? मरना है क्या? एक ओर हट जा।

अधे ने कहा—तुम जैसे गुलामो की मैं परवाह नही करता। मैं यही खडा रहूँगा। तुम अपने रास्ते जाओ। सिपाही गालियाँ देता हुआ वहाँ से आगे चल दिया।

कुछ और मिनिट वीतने पर उधर से राजा के मत्री का आगमन हुआ। मत्री ने सडक के नजदीक ही खडे हुए अधे व्यक्ति को सवोधन करते हुए कहा—भाई सूरदास! यहाँ क्यो खडे हो? महाराज की सवारी आ रही है। तुम्हे चोट लग जाएगी। कुछ पीछे की ओर हो जाओ।

अधा व्यक्ति विनयपूर्वक बोला—मन्त्रिवर, मैं महाराज से ही अपनी कष्ट-कहानी कहना चाहता हूँ। इसलिये यहाँ खडा हो गया हूँ।

मत्री फिर कुछ न कहकर शात भाव से आगे चले गये।

कुछ ही क्षणो के बाद महाराजा का रथ उस जगह आ पहुँचा। उन्होने एक अधे व्यक्ति को सडक पर खडा देखा तो अनुमान लगाया कि यह व्यक्ति सभवत कुछ मुझसे ही कहना चाहता है और इस लिये चोट आदि लगने की परवाह न करते हुए, ऐसी जगह खडा है।

राजा ने रथ रुकवाया और दयापूर्वक स्नेह से पूछा—प्रज्ञाचक्षुजी ! क्या बात है ? आप यहाँ क्यो खडे हैं ?

अधे ने द्रवित हृदय से निकली हुई वाणी को पहचान लिया। तुरत दोनो हाथ जोडकर निवेदन किया—अन्नदाता ! दरिद्रता के कारण अत्यन्त दुखी हूँ और आपसे कृपा की आशा रखता हुआ यहाँ खडा हूँ।

राजा ने उसी समय उदारतापूर्वक पर्याप्त दान देकर उस व्यक्ति को सतुष्ट किया और उसके बाद रथ को आगे बढाने का आदेश दिया।

बधुओ ! एक राजा ने अधे व दरिद्र को दान दिया, यह महत्त्वपूर्ण बात नही है। राजा प्रजा का पालन करने के लिये ही होते हैं। किन्तु इस छोटी सी कथा मे बडी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि, बिना देखे, और बिना किसी और के बताए भी अधे व्यक्ति ने वचनो की क्षुद्रता तथा उच्चता के कारण ही कितने सही तरीके से सिपाही, मत्री और राजा को पहचान लिया ! यही वाणी का माहात्म्य है।

वाणी का उच्चारण किस प्रकार का होना चाहिये, इस विषय मे जैनशास्त्र और अन्य धर्मशास्त्र भी अनेक बातो की सावधानी रखने का आदेश देते है। उन सब बातो मे मूल व मुख्य बात यही है कि मनुष्य जब भी बोले मृदु बोले, कभी कटु भाषा का प्रयोग न करे। ऐसा व्यक्ति ही जगत मे सम्मान पाता है और अनेक पुण्यो का बध करता हुआ अत मे उच्च गति प्राप्त करता है। भगवान महावीर ने कहा है —

> अवण्णवाय च परम्मुहस्स,
> पच्चक्खओ पडिणीय च भास।
> ओहारिणि अप्पियकारिणि च,
> भास न भासिज्ज सया स पुज्जो ॥
>
> —दशवैकालिक अ० ६, उ० ३ गा० ६

अर्थात् जो साधु पुरुष किसी की परोक्ष तथा प्रत्यक्ष मे निन्दा नही करता तथा पर-पीडाकारी, निश्चयकारी, और अप्रिय भाषा नही बोलता वह पूज्य होता है ।

बुद्धिमान् पुरुष अत्यन्त सावधानी रखते हुए ऐसी वाणी का ही उच्चारण करता है जिसमे किसी को खेद न पहुँचे, और न किसी का तिरस्कार हो । वह जानता है कि कटु वचन हृदय को तीर की तरह भेद देते है और उनका आघात अन्य शस्त्रो की अपेक्षा भी दीर्घकाल तक हृदय को सालने वाला होता है । इसलिये विवेकी पुरुष व्यर्थ बकवाद, निरर्थक तर्क-वितर्क और वितडावाद से बचता रहता है । वह चिढकर अथवा आवेश मे आकर कभी अहकारयुक्त शब्दो का उच्चारण नही करता । परिणाम यह होता है कि ऐसा व्यक्ति दुश्मन को दोस्त तथा पराये को भी अपना बना लेता है । उर्दू के एक कवि ने कहा है ऽ—

गैर अपने होगे शीरीं हो गर अपनी जबा ।
दोस्त हो जाते है दुश्मन, तलख हो जिसकी जबा ।।

मधुर वचनो का प्रभाव बडा चमत्कारपूर्ण होता है । मनुष्य की बात छोडिए, पशु भी मधुर वचनो से वश मे हो जाते है । प्रकृति ने सभवत जिह्वा को बिना हड्डी का व अत्यन्त कोमल इसलिये बनाया है कि वह कोमल वचनो का ही उच्चारण करे । कटु वचन सुनने वालो को दु ख देते हैं और मृदु वचन सुनने वाले को अमृत की तरह तृप्ति प्रदान करते हैं । उन्हें सुनकर श्रोता आह्लाद से परिपूर्ण हो जाता है और उसका हृदय खिल उठता है । कहा भी है —

Pleasant words are as honey comb, sweet to the soul and health to the borns

अर्थात् प्रिय शब्द मधु के समान होते हैं । वे हृदय को प्रिय लगते हैं तथा शरीर को भी सुख प्रदान करते हैं ।

मधुर वाणी के प्रभाव से विगडे हुए कार्य भी बन जाया करते है । घोर कलह भी शात हो जाता है । क्रोध की आग पर मधुर वचन शीतल जल का काम करते हैं । इसमे भी मुख्य बात तो यह है कि मृदु वचनो का प्रयोग करने से कोई हानि नही होती । एक पाई भी व्यय नही होती । इसी बात को एक सस्कृत कवि ने बडे सुन्दर ढग से कहा है —

जिह्वाया खण्डन नास्ति, तालुको नैव भिद्यते ।
अक्षरस्य क्षयो नास्ति, वचने का दरिद्रता ।।

कोमल कान्त पदावली का प्रयोग करने से न तो जीभ ही कटती है और न तालु भिदता है। मधुर वचनो का भडार भी है, अतः उनमे कमी नही हो सकती। फिर मधुर शब्द बोलने मे दरिद्रता क्यो दिखलाई जाय ?

श्रीमत लाखो रुपयो का दान करते है किन्तु उसका प्रभाव उतना नही होता जितना कि उनके द्वारा प्रयुक्त कोमल वचनो का होता है। रुपये-पैसे के दान के पीछे हृदय के अहकार का आभास होता है किन्तु मधुर वचनो के दान के पीछे हृदय की सरलता और महानता का।

शरीर की आकृति तो संसार के सभी मनुष्यो की एक सरीखी होती है। सभी को चेहरा, हाथ, पैर आदि अवयव भी प्राप्त होते हैं। किन्तु उनमे से कोई मनुष्य सर्वप्रिय होता है और कोई सभी को अप्रिय लगता है। एक व्यक्ति शारीरिक आकृति से वडा सुन्दर होता है और वह अपने सौन्दर्य की सुन्दर वस्त्र तथा आभूपणो से और भी वृद्धि कर लेता है किन्तु अगर उसके वचनो मे मिठास नही है, माधुर्य नही है, कर्कशता है तो वह सभी को अप्रिय लगता है। इसके विपरीत, एक मधुरभाषी मनुष्य धन, वैभव तथा रूप से रहित होने पर भी अपने वचन-सौन्दर्य से सवको मुग्ध कर लेता है। सवका प्रिय बन जाता है। किसी कवि ने अत्यन्त सुन्दरतापूर्वक यही बात समझाई है —

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं, हारा न चन्द्रोज्ज्वला,
न स्नान न विलेपनं न कुसुम, नालकृता मूर्द्धजा।
वाण्येका समलकरोति पुरुषं, या सस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सतत वाग्भूषणं भूषणम्॥

अर्थात् — मनुष्य का सच्चा आभूपण वाणी है। कडे कुण्डल और केयूर पहनने से मनुष्य की शोभा वृद्धि नही पाती। चन्द्रमा की तरह उज्ज्वल हार पहन लेने से अथवा सुगन्धित द्रव्यो का लेप करके स्नान करने से भी मनुष्य का सौन्दर्य नही वढता। पुष्पमालाएँ धारण करने से तथा विभिन्न प्रकार से वालो को सवारने से भी मनुष्य सुन्दर दिखाई नही देता, अगर मनुष्य मधुर वचनाभूपण से अलकृत न हो।

मृदु-वाणी ही मनुष्य को सौन्दर्य प्रदान करने वाला सच्चा आभूपण है। इसके विना सौन्दर्यवर्धक अन्य समस्त वस्त्राभूपण व्यर्थ है। कुरूप मनुष्य भी अगर मधुर वाणी रूप एक ही आभूपण धारण कर ले तो वह समस्त ससार को वश मे कर सकता है।

कोयल काली होती है। अन्य अनेक पशु-पक्षियो की भाति उसके शरीर पर विविध प्रकार के सुन्दर रग नही होते, मयूर की तरह वह नृत्य नही कर सकती। फिर भी वसन्त ऋतु उसके मधुर स्वर से ही मुखरित रहती है। कवि उसी के मधुर स्वर की प्रशसा करते है। यह क्यो ? सिर्फ इसीलिये कि उसकी वाणी मे असीम माधुर्य होता है। उस मधुर स्वर के अभाव मे ही कौआ कोयल की आकृति का होने पर भी प्रत्येक स्थान पर तिरस्कृत होता है। कोई भी प्राणी उसकी कर्कश ध्वनि को पसन्द नही करता। एक रूपक है—एक कौआ शहर मे जगह-जगह तिरस्कार तथा झिडकियाँ खाने के कारण वडा दु:खी हो गया और जगल मे जाकर एक पेड पर वैठ गया।

कुछ समय पश्चात् एक कोयल भी उधर आ निकली। कौए को उदास देखकर वोली—भाईजान ! क्या वात है ? इतने दु खी क्यो नजर आ रहे हो ?

कौए ने कहा—वहन ! कुछ मत पूछो ! मेरा हृदय फटा जा रहा है। जहाँ-जहाँ भी मैं जाता हूँ, लोग मार-मार कर मुझे भगा देते हैं। मेरा अपमान करते हैं। इसी दु ख के कारण सोच रहा हूँ किसी और शहर मे जाकर रहूँ।

कोयल का हृदय कौए की वात सुनकर वडा व्यथित हुआ। उसने उसे समझाया—वधु ! दूसरे और अनजाने शहर मे जाकर क्या करोगे ? जव तक तुम अपनी भाषा नही वदलोगे हर जगह के लोग इसी तरह पेश आएँगे। इससे तो अच्छा यही है कि वापिस अपने ही शहर मे चले जाओ। हाँ, इतना अवश्य करना कि हर समय, और हर जगह व्यर्थ न वोलना। आवाज तो प्रकृति की देन है किन्तु निरर्थक कांव कांव करने से लोग नाराज और परेशान हो जाते है। मुझे देखो ! मैं वहुत कम वोलती हूँ। और अवसर देखकर ही वोलती हूँ। अतएव लोग मुझे चाहते हैं और मेरे लिये सुन्दर-सुन्दर वगीचे आदि भी लगाते हैं।

वात कितनी सत्य है ! तभी तो किसी ने लिख दिया है —

कागा काको लेत है, कोयल काको देय।
मीठी वानी वोलि के जग अपनो करि लेय।।

सज्जनो ! आप समझ गए होगे कि मधुर वचनो मे कितना आकर्षण होता है और कटु वचनो मे कितनी उद्वेजकता ! कटु वचनो का उपयोग करने से आत्मा मे भी मलिनता आती है, अत किसी के सामने तो उनका

प्रयोग करना त्यज्य है ही, किन्तु परोक्ष मे भी अगर निन्दा अथवा चुगली की जाए तो वह व्यक्ति, जिसकी आप निन्दा करेंगे, भले ही न सुने फिर भी उससे आप की आत्मा मलिन होगी। उससे आपका अहित होगा। कहते है —

शेख सादी अपने पिता के साथ एक बार मक्का जा रहे थे। उनके काफिले का नियम था—आधी रात को उठकर प्रार्थना करना। एक दिन आधी रात को सादी ने प्रार्थना के बाद दूसरे लोगो को सोते देखकर अपने पिता से कहा—पिताजी! देखिये! ये लोग कितने आलसी हैं, न उठते हैं और न प्रार्थना करते हैं।

पिता ने कडे शब्दो मे कहा—अरे सादी! बेटा! तू भी न उठता तो ठीक था। जल्दी उठकर दूसरो की निन्दा करने से तो न उठना अधिक अच्छा।

दूसरे की निन्दा करने वाले व्यक्ति की आत्मा समय आने पर अपने आपको धिक्कारती है। इसलिये अगर मनुष्य अपने जीवन का कल्याण चाहता है तो उसे किसी के प्रति प्रत्यक्ष मे या परोक्ष मे, गर्हित शब्दो का प्रयोग नही करना चाहिये, प्रयोग करने का विचार भी नही करना चाहिए।

कोमल-कान्त पदावली का उच्चारण करने वाले मनुष्य का चेहरा अत्यन्त सौम्य होता है।

उसके चेहरे पर शाति और स्नेह का साम्राज्य होता है। इसके विपरीत क्रोधी और कटुभाषी मनुष्य के नेत्र मानो आग उगलते हुए ही दिखाई देते हैं। कोई भी व्यक्ति उसके पास फटकने की इच्छा नही रखता।

मनुष्य की छोटी-सी जिह्वा का चमत्कार उसकी सारी जिन्दगी को विष अथवा मधु से परिपूर्ण बना देता है। एक जापानी कहावत है—'जिह्वा केवल तीन इच लम्बी होती है। परन्तु वह छह फुट के ऊँचे व्यक्ति को भी कत्ल कर सकती है।" वास्तव मे मनुष्य की जिह्वा ही मनुष्य को उच्च अथवा अधम बनाती है। स्वर्ग अथवा नरक का मार्ग दिखाती है। और कर्मो के बध का अथवा मोक्षप्राप्ति का कारण बनती है। सस्कृत के एक कवि ने इस सम्बन्ध मे बडा सुन्दर कहा है —

लक्ष्मीर्वसति जिह्वाग्रे, जिह्वाग्रे मित्रबान्धवा।
जिह्वाग्रे बधन प्राप्त, जिह्वाग्रे, मरण ध्रुवम्॥

—अर्थात् मनुष्य की इस छोटी-सी जीभ के कारण वह अपना शुभ

अथवा अशुभ सभी कुछ कर सकता है। जीभ के अग्र भाग पर लक्ष्मी का निवास है और उसी भाग पर मित्रो तथा हितैपियो का भी। यानी मधुर भापण करने से ही लक्ष्मी प्राप्त होती है और मधुर भापण करने से ही बन्धु बान्धव बनते हैं।

आगे कहा है कि इस जीभ की कुटिलता से मनुष्य कर्मों का बध करता है और जन्म-मरण के बधन मे बधता है। किन्तु उससे पूर्व इस लोक मे ही कटु वचनो के उच्चारण के कारण कभी-कभी उसे बन्धनो मे बधना पडता है और कभी-कभी तो मृत्यु का शिकार भी बनना पडता है।

इन उदाहरणो से शिक्षा लेते हुए मनुष्य को चाहिये कि वह अपने वचनो का सम्यक् प्रयोग करके मनुष्य जीवन को सफल बनाए और अन्त मे उच्चतम गति को प्राप्त करे।

सफल जीवन उसी मनुष्य का माना जा सकता है जो अपनी प्रेममयी वाणी मे सारे ससार को वश मे कर सकता हो। राजा, महाराजा तथा चक्रवर्ती अपनी सत्ता से प्रजा को वश मे करते हैं किन्तु वे केवल मानव-शरीर को ही वश मे कर सकते हैं, मानवहृदय को नही। पशुबल के द्वारा मनुष्य भयभीत होकर शरीर की अधीनता स्वीकार करते है किन्तु प्रेमपूर्ण वाणी के द्वारा हृदय से अधीन हो जाते हैं।

विश्व मे अनेक सत्ताधारी सम्राट हुए है किन्तु क्या ससार उनमे से एक की भी आज जय बोलता है? नही! इसके विपरीत आज दुनिया महावीर की, कृष्ण की, बुद्ध तथा ईसा की जय बोलती है। वह इसीलिये कि उन्होने अपने स्नेह-पूरित हृदय से और मधुर वचनो से ससार के समस्त प्राणियो के हृदय मे अपना स्थान बना लिया था। स्नेह से जनता के हृदय को जीतने वाला ही सच्चा सम्राट कहलाता है। और स्नेह से ही ससार के उच्च, अधम महापापी और अपराधी को भी जीता जा सकता है।

भगवान् महावीर ने भयकर नागराज, चडकौशिक को भी अपना अनुयायी बना लिया। बुद्ध ने लुटेरे अगुलिमाल के हृदय का परिवर्तन करके उसे साधु बनाया। गाधीजी का आदर्श जीवन तो आपके और हमारे सामने की चीज है। उनका कथन था कि प्रेम और शुभेच्छा से शत्रु को भी निश्चय रूप से मित्र बनाया जा सकता है। उन्होने ऐसा सिर्फ कहकर ही नही वरन करके भी बताया है।

जब वे अफ्रीका की जेल मे थे, वहाँ से उन्होने जनरल स्मट्स को अपने हाथो से बनाई हुई एक चप्पल की जोडी भेट स्वरूप भेजी। जनरल स्मट्स गाधीजी के महान् विरोधी थे और गाधीजी को भी अपना विरोधी समझते थे। किन्तु गाधीजी को देखो।

उस छोटी-सी भेंट के कारण वह गाधीजी के विरोधी मिटकर पुजारी गए।

गाधीजी की मृत्यु के बाद जनरल स्मट्स ने उन्हे श्रद्धाजलि देते हुए लिखा था कि--"गाधीजी मेरे समय के महापुरुष थे। इनके साथ मेरे तीस वर्ष के परिचय ने हमारे बीच मतभेद होते हुए भी, उनके प्रति मेरी सम्मान-वृत्ति ऊँची से ऊँची ही बनाई थी। मानवो के बीच से मानवश्रेष्ठ आज चला गया है, इसका मुझे गहरा शोक है।"

यह उदाहरण बताता है कि प्रेम के द्वारा किस प्रकार मनुष्य बिना सत्ता के भी बडे-बडे सत्ताधारी पुरुषो को झुका सकता है। श्रेणिक जैसे महान राजा भी अनाथी मुनि के सम्मुख नतमस्तक हुए थे। क्या था मुनि के पास ? कुछ भी नही, सिवाय ससार की कल्याण-कामना से भरे हुए हृदय के। मनुष्य के मन को जीतने के लिये किसी अन्य हथियार की आवश्यकता नही रहती। मृदु वचन और मृदु हृदय ही इसके लिये काफी होते हैं।

गाधीजी ने कलकत्ता मे जब उपवास किये तो क्रूर गुडो ने भी गाधी-जी के चरणो मे अपने हथियार डाल दिये। विश्व की महान सल्तनत जो नही कर सकी वह मुट्ठी भर हड्डियो वाले एक व्यक्ति ने कर दिखाया। सत्ता गुडो को जान से मार सकती थी, लेकिन उनका हृदयपरिवर्तन नही करा सकती थी। वह शक्ति गाधीजी मे ही थी। कहते भी है—"Love reigns without sward' प्रेम तलवार के बिना ही शासन करता है।

भाइयो ! मैं समझता हूँ कि आपने अब वाणी मे छिपी हुई वशीकरण की शक्ति को जान लिया होगा। और यह भी समझ लिया होगा कि वाणी का उचित और अनुचित प्रयोग ही बध और मोक्ष का कारण है। अत कितनी सावधानी से इसका प्रयोग करना चाहिये।

卐

सामायिक का महत्त्व

वंधुओ !

सामने दीवार पर लगी हुई घडी कह रही है कि समय हो चुका है और मैं अव आपके समक्ष अपने विचार प्रस्तुत करूँ। कई वधु इसी घडी की प्रेरणा से सामायिक ग्रहण कर चुके हैं और कुछ करने जा रहे हैं। यह देखकर इच्छा हो रही है कि आज हम सामायिक पर ही कुछ विचार करे।

सामायिक का महत्त्व जीवन मे अत्यधिक है। अगर आप सच्चाई पूर्वक सामायिक धारण करते है, और उमका पालन सही मायने मे करते है तो कोई कारण नही है कि आपकी आत्मा उत्तरोत्तर निर्मल और पवित्र न वने।

मानव स्वभाव है या उसकी कमजोरी कहिए कि वह भूले करता है,सही मार्ग पर चलते-चलते कभी-कभी वहक जाता है और कुमार्ग पर अग्रसर हो जाता है। किन्तु अगर प्रतिदिन वह कुछ समय के लिये भी सामायिक का आराधन करता है, दूसरे शब्दो मे सम-भाव धारण करता है तो उसकी कुपथ-गामी आत्मा को 'ब्रेक' लग जाता है और उसकी गति मे अवरोध उत्पन्न हो जाता है। परिणाम यह होता है कि उसकी दूषित भावनाओ मे शुद्धता का आगमन होने लगता है। पर शर्त यही है कि सामायिक सच्ची होनी चाहिये।

सिर्फ मुख-वस्त्रिका वांधकर तोते की तरह सामायिक के पाठो को पढ लेना और उस समय विना हृदयगम किये शास्त्र पढ लेना, प्रवचन सुन लेना अथवा भजन स्तुति गा लेना सच्ची सामायिक नही होती। हम प्राय. देखते हैं कि कई भाई और वहनें सामायिक ले लेते है और उस काल मे इधर उधर की गपशप करके अडतालीस मिनिट पूरे कर लेते हैं। खास तौर से वहनें अपने सामायिक के समय का अधिक दुरुपयोग करती है। उनका अधिकाश समय घरेलू वातो मे अथवा किसी न किसी की चुगली अथवा निन्दा मे जाता है। प्राय व्याख्यान के समय मे भी उनकी खुसुर-फुसुर चलती ही रहती है अतः सामायिक का सही लाभ वे नही ले पाती और उनकी सामायिक एक दिखावा मात्र रह जाती है।

मामायिक का मही लाभ तब हासिल हो सकता है जब कि उन अडतालीम मिनिटो मे पूर्ण मम-भाव रखा जाए। वैर, विरोध, क्रोध तथा द्वेप आदि की भावनाओ से दूर रहा जाय। इतना ही नही वरन राग, द्वेप तथा कषायादि का शमन भी किया जाए। अपनी विगत भूलो और पापो का मन ही मन मे प्रायश्चित्त करते हुए आत्मा को सयत और विरक्त वनाने की कोशिश उस समय मे करनी चाहिये। अगर सामायिक धारण करके भी आत्मा मे समता नही आए और राग-द्वेष की उग्रता वैसी ही बनी रहे तो सामायिक करना और न करना एक ही जैसा है।

राग और द्वेप आत्मा के महान् भयानक शत्रु है। ये ही आत्मा की दुर्गति करते है और ससार मे जितने भी कष्ट, सकट, दुख और वेदनाएँ होती हैं उनको भुगतने के लिये वाध्य करते है। कहा गया है :—

रागो य दोसो वि य कम्मवीय,
कम्म च मोहप्पभव वयति।
कम्मं च जाई मरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाई–मरणंवयति॥

—उत्तराध्ययन ३२ ७

अर्थात् राग और द्वेष ये दोनो कर्म के बीज हैं, कर्म मोह से उत्पन्न होते है, कर्म ही जन्म-मरण के मूल है और जन्म मरण ही दुख है।

राग और द्वेप के कारण मनुष्य का आतरिक तथा वाह्य दोनो प्रकार का जीवन दुखमय हो जाता है। वाह्य जीवन मे उसे अनेक संकटो का सामना करना पडता है और मतिविभ्रम हो जाने मे मानसिक शाति भी नसीव नही होती। क्योकि मतिविभ्रम हो जाने पर मनुष्य विवेकशून्य हो जाता है और हिताहित का ज्ञान उसे नही रहता। वह अपनी अहितकारी वस्तुओ को हितकारी मानने लग जाता है और हितकारी की उपेक्षा करने लगता है। फल यह होता है कि आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि नही होती और वास्तविक सुख से वह कोसो दूर रह जाता है।

आत्मा का निज का स्वभाव चिदानन्द मय है। अखड और अव्यावाध आनन्द उसका स्वरूप है किन्तु ससारी जीव राग-द्वेष के वश मे होकर अपने स्वरूप से च्युत हो रहा है। उसका वास्तविक सुख, सुख न रहकर सुखाभास हो गया है।

इसका कारण यही है कि मानव अपने मन और इन्द्रियो पर कावू नही कर पाता। भावनाओ के वेग मे बहकर अपनी आत्मा को दूषित कर लेता है और अपने अनिष्ट का स्वय ही कारण बन जाता है। इसलिये जो पुरुष आत्मा को जन्म मरण के कष्ट से मुक्त करना चाहते है और समस्त उपाधियो से छुटकारा पाना चाहते है उन्हे अपने विकारो को दूर करना चाहिये। आत्म-शुद्धि का एक मात्र उपाय यही है कि वह सम-भाव धारण करने का प्रयत्न करे। दूसरे शब्दो मे सच्ची सामायिक करे।

अगर सामायिक के अल्प समय मे भी मनुष्य शुद्ध चिंतन करे, आत्मा के पवित्र स्वरूप को समझने का प्रयत्न करे और उच्च विचारो को हृदय मे लाने का प्रयास करे तो उसका प्रभाव जीवन पर पडे विना नही रहेगा। जिस प्रकार काष्ठ मे आग लग जाने पर उसे बुझा दिया जाता है फिर भी उसका चिह्न लुप्त नही होता, ठीक उसी तरह कुछ समय के लिये भी अगर मन मे पवित्र विचार आ जाते हैं तो उनका प्रभाव मन पर काफी समय तक रहता है। अत. सामायिक के काल मे अगर उच्च भावनाओ को हृदय मे स्थान देने का प्रयास किया जाय तो उनका असर जीवन मे सदा बना रहेगा। अगर हम इस लक्ष्य को ध्यान मे रखकर ही सदा सामायिक करे तो वह सच्ची सामायिक होगी और उससे आत्मा का कल्याण अवश्य होगा, इसमे सदेह नही।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि राग और द्वेष को जीतकर किस प्रकार सम-भाव को अपनाया जाय ? इसका समाधान यही है कि दोषो का विनाश करने के लिये उसके विरोधी गुणो का आश्रय लिया जाय।

विचारको ने ससार के पदार्थों को तीन भागो मे बाँटा है। (१) इष्ट (२) अनिष्ट (३) उपेक्षणीय। जो पदार्थ हमारे मन और इन्द्रियो को रुचिकर लगते है वे इष्ट कहलाते हैं और अप्रिय लगने वाले अनिष्ट।

वास्तव मे तो किसी पदार्थ का प्रिय लगता अथवा अप्रिय लगना उस पदार्थ का धर्म नही है। प्रियता अथवा अप्रियता जीव की कल्पना मे है। नीम हमें अप्रिय लगता है पर ऊँट को प्रिय। किसी को दही प्रिय लगता है और किसी को उसकी गध भी अप्रिय लगती है। उदार व्यक्ति धन को दान मे देना पसद करता है और कजूस व्यक्ति उसे दाँतो से दवाकर रखना चाहता है। एक व्यक्ति व्रत, उपवास, सामायिक अथवा पूजा-पाठ करके प्रसन्नता और सतोष का अनुभव करता है किन्तु दूसरा व्यक्ति इन सबको ढकोसला समझकर बचने की कोशिश करता है। इससे ज्ञात होता है कि जीव अपनी कल्पना के

द्वारा पदार्थों को प्रिय अथवा अप्रिय बना लेता है। और प्रिय पदार्थों मे राग और अप्रिय मे द्वेष बुद्धि धारण करता है।

किन्तु विचार करने की बात यह है कि जब रुचिकर अथवा अरुचिकर लगना पदार्थ का अपना गुण या दोष नही है तो फिर किसी भी वस्तु के प्रति राग अथवा द्वेष क्यो रखा जाए ? सम-भाव ही क्यो न अपनाया जाए ? ज्ञानी व्यक्ति पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को समझ लेते है और इसलिये उसे इष्ट अथवा अनिष्ट नही मानते। परिणाम यह होता है कि उनके लिये सभी पदार्थ तीसरी 'उपेक्षणीय' कोटि मे आ जाते हैं और इस वृत्ति को हम वैराग्य कहते है।

वैराग्य का अर्थ यही है कि किसी भी पदार्थ तथा किसी भी प्राणी के प्रति प्रिय अथवा अप्रिय भाव न रखते हुए मध्यस्थ भाव, दूसरे शब्दो मे सम-भाव रखना। जब हृदय मे समभाव आ जाता है तो मनुष्य को किसी भी पदार्थ तथा किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष अथवा वैर विरोध नही रहता। उसके लिये अपने-पराये, शत्रु-मित्र तथा उपकारक और अपकारक सभी समान होते हैं। मान-अपमान का उसके लिये कोई महत्व नही होता। असह्य शीत अथवा उष्ण भी उसपर कोई प्रभाव नही डाल पाते। किसी भी स्थिति मे उसका हृदय विचलित नही होता।

गजसुकुमाल मुनि के मस्तक पर उनके श्वसुर सोमिल ब्राह्मण ने मिट्टी की पाल बनाकर उसमे अगारे भर दिये, जिसमे खोपडी चटक कर फट गई किन्तु उस असह्य ताप के कारण भी उनकी आत्मा रच मात्र भी विचलित नही हुई। और उसी निर्विकार अवस्था मे देह-त्याग कर उन्होंने मोक्ष पद प्राप्त किया। कमठ ने पार्श्वनाथ स्वामी को अनेक उपसर्गों के द्वारा विचलित करना चाहा किन्तु एक भी परीषह उन्हे विचलित नही कर सका।

मतलब यही है कि जब आत्मा मे सम-भाव जागृत हो जाता है तब कोई भी कष्ट, उपसर्ग, परीषह, मोह अथवा लोभ जीव को अपनी स्वाभाविक अवस्था से चलायमान नही कर पाते। सिर्फ तीर्थंकर अथवा मुनि ही नही वरन अनेक श्रावको के उदाहरण भी हमारे सामने आते हैं जिन्होने अनेकानेक परीषह सहकर भी अपने धर्म को नही छोडा और रच मात्र भी आत्मा को अपने सहज और स्वाभाविक मार्ग मे विचलित नहीं होने दिया। कामदेव, सद्दालपुत्र तथा सेठ सुदर्शन आदि आदि अनेको इतने महान् पुरुष हुए हैं

जिन्होने अनेक कष्ट व दु ख सहन करके यहाँ तक कि प्राण-त्याग करके भी धर्म के प्रति श्रद्धा को कम नही होने दिया और आत्म-कल्याण किया ।

ऐसी पवित्र आत्माएँ अपने, प्राण-घातक के प्रति भी मैत्री भावना रखती हैं, और उन्हे अपना उपकारक मानती है । उनका हृदय सदा यही कामना करता है —

दुर्जन क्रूर कुमार्ग रतो पर,
क्षोभ नहीं मुझको आवे ।
साम्य भाव रक्खूँ मैं उन पर,
ऐसी परिणति हो जावे ।।

ऐसी निस्पृह भावना होना ही सच्ची सामायिक कहलाती है । जब तक ईर्ष्या, द्वेष, लोभ अथवा अहकार हृदय से दूर नही होते तब तक सामायिक करना कोई लाभ नही देता । जिस समय आप सामायिक ग्रहण करते हैं कम-से-कम उतने समय के लिये तो आपको इन दूषित भावो का सर्वथा त्याग करना ही चाहिये । ऐसा प्रयत्न करने पर शनै शनै आपकी आत्मा से विकार अवश्य ही पलायन कर जाएँगे और आप आत्मा के सहज स्वरूप को समझ कर अनिर्वचनीय 'आत्मानन्द' को प्राप्त कर सकेंगे । गीता मे श्रीकृष्ण ने कहा है --

सम शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो· ।
शीतोष्णसुखदु खेषु सम सङ्गविवर्जित ।।

अर्थात्—जो शत्रु मित्र मे और मान-अपमान मे सम है, तथा सरदी गरमी और सुख दु खादि द्वन्द्वो मे सम है, और आसक्ति से रहित है वह भक्तिमान् पुरुष मुझे अत्यन्त प्रिय है ।

पूर्णतया समता आए विना कोई भी मनुष्य सिद्ध, योगी, सिद्धभक्त या सिद्धज्ञानी नही समझा जा सकता । समता ही सिद्धि की कसौटी है । महात्मा पुरुषो की यही विशेषता है कि उनके हृदय मे वैर, विरोध, राग, द्वेष अथवा वैमनस्य क्षण भर के लिये भी स्थान नही पाते । इसी के कारण उनके चित्त मे विक्षेप नही होता । समभावी और समदर्शी होने के कारण किसी भी परिस्थिति मे वे धैर्य और शान्ति का परित्याग नहीं करते और तपोमय जीवन व्यतीत करके कर्मो का क्षय करने मे समर्थ वन जाते हैं ।

समता और तटस्थता सत-जीवन के लिये तो आवश्यक ही नही वरन

अनिवार्य है। और यह तब आती है जब कि विवेक और बुद्धि का उपयोग समीचीन रूप से किया जाता है। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम जितना अधिक होगा उतनी ही हमारी बुद्धि विकसित होगी और भावनाएँ उज्ज्वल बनेगी।

इतना अवश्य ध्यान मे रखना चाहिये कि बुद्धि का उपयोग सही हो। तर्क के द्वारा विषय को विकृत बना देना अथवा वाक्यो की भूल-भूलैया मे किसी को फसा देना बुद्धिमानी नही है।

एक व्यक्ति ने दूसरे से पूछा—तुम्हारा घर कहाँ है? उत्तर मिला—गोविन्द के घर के सामने। पहले ने फिर प्रश्न किया—भाई! गोविन्द का घर कहाँ है? तो दूसरे व्यक्ति ने कहा—मेरे घर के सामने।

उलझन मे पडकर प्रथम मनुष्य ने फिर पूछा—अरे! तुम दोनो के घर कहाँ है?

उत्तर आया—"सामने-सामने।"

तो बधुओ! क्या बुद्धि का इन उत्तरो मे सही उपयोग है? यह सच है कि प्रश्नो के उत्तर देने वाले व्यक्ति ने प्रश्नकर्ता को अपनी कला से निरुत्तर अवश्य कर दिया किन्तु उससे लाभ क्या हुआ? यह तो सिर्फ बुद्धि का दुरुपयोग करना ही हुआ न?

बस इसी प्रकार मनुष्य अपने मस्तिष्क की और आत्मा की असीम शक्ति को व्यर्थ के विचारो मे, व्यर्थ की बातो मे और व्यर्थ के कार्यों मे समाप्त करते रहते हैं और जब जीवन का अंत आ जाता है तब घोर पश्चात्ताप करते हुए यह कहने के अतिरिक्त और कुछ नही कर पाते कि—

तुहमते चन्द अपने जिम्मे कर चले।
किसलिये आए थे हम क्या कर चले॥

पर उस निरर्थक पश्चात्ताप से क्या लाभ हो सकता है? जीवन भर दूषित विचारो को पकडे रहने पर फिर अत समय मे क्या बन सकता है? इसलिये यह आवश्यक है कि समय रहते ही मनुष्य चेत जाय और धीरे-धीरे आत्मा को विषय-विकारो से रहित और पवित्र बनाने का प्रयत्न करे।

सासारिक वस्तुओ मे, और सासारिक प्राणियो मे मोह और आसक्ति होने पर जीव उनमे सुख की कल्पना करता है और उनका वियोग अथवा अत होने पर दुख मानता है। उस स्थिति मे आत्मा मे समभाव नही रह पाता।

दु ख की तथा चिन्ताओ की वृद्धि होती रहती है। सासारिक साधनो के सचय करने का जितना प्रयत्न किया जाता है सुख मनुष्य से उतना ही दूर होता जाता है और उसके स्थान पर दु ख सचित होने लगता है। क्योकि प्रत्येक क्षण उनके वियोग का भय बना रहता है। आचार्यों ने ठीक ही कहा है '—

भोगे रोगभय कुले च्युतिभय वित्ते नृपाला द् भयम् ।
माने दैन्यभय वले रिपुभय रूपे जराया भयम् ।।
शास्त्रे वाद्भय गुणे खलभय, कामे कृतान्ताद् भयम् ।
सर्वं वस्तु भयान्वित भुवि नृणा वैराग्यमेवाभयम् ।।

अर्थात्—भोगो मे रोग का भय होता है, कुल मे अपमान का, धन मे राजा के छीन लेने का, मान मे दीनता का, बल मे शत्रु का, रूप मे वृद्धावस्था का, शास्त्रज्ञान मे वाद विवाद का, गुणो मे दुर्जनो का और शरीर मे प्रतिपल मृत्यु का भय समाया हुआ रहता है। इस प्रकार ससार की सभी वस्तुएँ भय से युक्त हैं। कोई भी वस्तु भय से रहित नही है। सिर्फ वैराग्य ही निर्भयता प्रदान करनेवाला है।

अभी बताया गया था कि वैराग्य आत्मा मे तब आता है जब जीव की समस्त सासारिक वस्तुओ मे उपेक्षा हो जाती है। उपेक्षाभाव ही वैराग्य कहलाता है और उपेक्षणीय भाव के मूल मे समभाव रहता है। जब ससार की समस्त वस्तुओ के प्रति मनुष्य के हृदय मे सम भाव आ जाता है तो उसकी किसी भी वस्तु मे आसक्ति नही रहती। और आसक्तिरहित भावना ही शनै शनै उपेक्षा का भाव धारण कर लेती है जिसे हम वैराग्य कहते हैं। आसक्ति और भय को त्याग देने पर ही आत्मा निश्चित होकर साधना कर सकती है। कहते हैं—एकबार गुरु मच्छिन्द्रनाथ अपने शिष्य गोरखनाथ के साथ कही जा रहे थे। रास्ते मे उन्होंने अपनी झोली शिष्य को ले चलने के लिये पकडा दी। गोरखनाथ को वह झोली वजनदार मालूम हुई। उसने चुपके से उसे खोलकर देखा तो मालूम हुआ कि इसमे सोने की ईंटें हैं। गोरखनाथ ने उन ईंटो को रास्ते मे ही फेंक दिया।

कुछ दूर चलने के बाद रास्ता जगल मे से होकर जाता था। गुरु ने पीछे मुडकर शिष्य से पूछा —वत्स, अब हमे इस निर्जन वन मे होकर चलना है। तुम्हे भय तो नही लगता।

गोरखनाथ बोले—गुरुजी! भय को तो मैं रास्ते मे ही फेंक आया हूँ। आप निश्चिन्त होकर चलिये।

वास्तव मे ही निश्चितता अपरिग्रह होने पर आती है। साधु इसी कारण निश्चित रहते है कि उनके पास कोई ऐसी वस्तु नही होती जिसके छिन जाने अथवा चोरी चले जाने का भय हो। ससार मे (१) 'धन', (२) 'जन' और (३) 'तन' इन तीनो के प्रति मनुष्य का सम भाव और उपेक्षा भाव होना चाहिये।

धन से दूर भागने वाला प्राणी किस प्रकार निश्चितता का अनुभव करता है यह मैंने अभी गोरखनाथ के उदाहरण से आपको समझाया है। धन की प्यास कभी बुझती नहीं, उसकी ओर मे मुँह मोड लेने पर ही परम शाति और सुख की प्राप्ति होती है। धन की तृष्णा तो कुवेर का धन प्राप्त करने पर भी मिट नही सकती, उत्तरोत्तर बढती जाती है। लोभ की आग एक मात्र संतोष रूपी जल से ही बुझ सकती है। सुन्दर कवि ने मनुष्य को इस विषय मे वडी ही सुन्दर चेतावनी दी है —

भूख लिये तू दशो दिशि दौरत,
ताहि ते तू कवहूँ न अघै है।
भूख-भडार भरै नहिं कैसेहु,
जो धन मेरु कुवेर लों पै है।
तू सब आगे है हाथ पसारत,
यासि ते हाथ कछू नहिं ऐ है।
'सुन्दर' क्यो न सतोष करे शठ !
खाय कि खाय कितौ अब खै है।

धन की अधिकाधिक प्राप्ति के लोभ मे मनुष्य अपने स्वाभाविक सुख व शाति को खो बैठता है, और वह धन का स्वामी नही वरन धन उसका स्वामी वन जाता है। वह जितना धन उपार्जित करता है उससे अनेक गुना और उपार्जन करने की आकाक्षा रखता है और सदा केवल दुख, तृष्णा जनित सताप, व्याकुलता तथा चिता का भागी बना रहता है। उसके हृदय से समता और शान्ति तिरोहित हो जाती है।

लोभी पुरुष इस लोक मे सुख प्राप्त नही कर पाता और आगामी भव मे भी सुख प्राप्ति की आशा उसके लिये नही रहती। मृत्यु काल उपस्थित होने पर अपने समस्त वैभव का त्याग हो जाने की व्यथा से वह छटपटाते हुए प्राण त्याग करता है और नरक का अतिथि वन जाता है। इसीलिये कहा गया है—"**लोहो सव्वविणासणो**"—लोभ इस लोक तथा परलोक दोनो का ही विनाश करनेवाला है।

लोभ के वशीभूत होकर मनुष्य अपना आदर-सम्मान प्रतिष्ठा आदि भी खो देता है। लोभ के असीम सागर मे डूबता उतराता रहता है, उसे कभी किनारा नही मिलता है। पाश्चात्य विद्वान् भी कहते हैं—

Money is a bottomless sea, in which, honour, Conscience and truth may be drowned.

—कोजले

अर्थात् धन अथाह समुद्र है जिसमे इज्जत, अन्त करण और सत्य सभी डूब जाते है।

धन के द्वारा सुख प्राप्त करने की तथा नाम कमाने की जिन्हे आकाक्षा रहती है समझना चाहिये कि वे गहरे भ्रम मे हैं। भरत चक्रवर्ती छह खण्ड जीतकर जब वृषभाचल पर्वत पर अपना नाम लिखने गए तब उन्हें बडा अभिमान हुआ—मैं ऐसा महान् चक्रवर्ती हुआ हूँ जिसका नाम इस पर्वत पर रहेगा।

किन्तु जब वे पर्वत पर पहुँचे तो देखा कि वहाँ बेशुमार चक्रवर्ती आ आकर अपना नाम लिख गए हैं। यहाँ तक कि भरत को अपना नाम लिखने के लिये जगह ही नही दिखाई दी। आखिर उन्होने एक नाम मिटाकर अपना नाम लिखा और गर्व रहित होकर वहाँ से वापिस लौट आए।

तात्पर्य यही है कि धन का गर्व करना और यह सोचना कि इससे मेरा नाम अमर रहेगा, महान मूर्खता है। धन का सचय करने से न तो मनुष्य का नाम अमर होता है और न ही आत्मा का कल्याण हो सकता है।

नाम अमर उसी का रहता है जो अपने धन वैभव का त्याग करता है। उसी की आत्मा भव-बधन से मुक्त हो सकती है। स्मरण रखिए, सुख त्याग मे है, भोग मे नही।

एथेन्स में सोलन नामक एक महान दार्शनिक रहता था। सयोगवश एक बार वह लीडिया के राजा कारूँ के यहाँ पहुँच गया। कारूँ अत्यन्त धनाढ्य था। उसे अपनी सपत्ति का बडा गर्व था। अहकार वश उसने सोलन को अपनी असीम धन-राशि दिखला कर बताना चाहा कि उससे बढकर ससार मे और कोई भी सुखी नही है। पर सोलन के दिल पर उस वैभव का कोई प्रभाव नही पडा। उसने कहा—

ससार मे सुखी वह है जो प्रत्येक अवस्था मे सम-भाव रखता है, और ससार की किसी भी वस्तु मे आसक्ति न रखता हुआ जीवन के अन्त मे भी

अनासक्त रहता है। कारूँ को सोलन का यह कथन अच्छा नही लगा और उसने सोलन को विना सम्मान दिये अपने यहाँ से विदा कर दिया।

कुछ समय वाद कारूँ ने पारस के राजा साहरस पर चढाई कर दी। पर साहरस ने उसे हरा दिया और कैद कर लिया। तत्पश्चात् उसे जिन्दा जला देने का हुक्म दे दिया। उस वक्त कारूँ को सोलन याद आया और वह 'सोलन ! सोलन !' चिल्लाने लगा। साहरस ने इसका अर्थ पूछा तो कारूँ ने सोलन की कही वाते सुनाईं। इसका साहरस पर भी वडा प्रभाव पड़ा। उसने कारूँ को छोड दिया। कारूँ ने उसके वाद का अपना सारा जीवन आसक्ति रहित और त्यागमय विताया।

ऐसे उदाहरणो से ज्ञात हो जाता है कि धन के प्रति आसक्ति भाव रखने पर कभी भी सच्चा सुख नही मिलता। सुख मिलता है उसके प्रति अनासक्त भाव रखने पर।

वधुओ ! आपकी सामायिक आपको यही प्रेरणा देती है। ससार मे धन महा पाप का कारण वनता है, धन के कारण ही व्यक्ति अनेकानेक कुकृत्य करता है। धनासक्त धनी व्यक्ति के हृदय में दया और स्नेह की मात्रा तनिक भी नहीं रह जाती। धन ही उसका सर्वस्व हो जाता है। उसे प्राप्त करने के लिये वह कोई भी उपाय वाकी नही रखता। कहा भी है :—

अर्थार्थी जीवलोकोऽयं श्मशानमपि सेवते।
जनितारमपि त्यक्त्वा निःस्वं गच्छति दूरतः॥

अर्थात् इस ससार मे धन की कामना करने वाला मनुष्य श्मशान का भी सेवन करता है, और धन से रहित होने पर अपने जन्म देने वाले पिता को भी छोडकर दूर चला जाता है।

इसलिये यह आवश्यक है कि सबसे पहले जीवन मे धन के प्रति समता भाव रखा जाय। आप को मैं यह नही कहता कि आप सव अपना धन त्याग कर आज ही वावाजी वन जायें। मेरे कहने का तात्पर्य तो यह है कि आप के पास धन जितना भी हो, उसी मे आप सतुष्ट रहे। ईमानदारी से कर्तव्य पालन के हेतु जो भी सपत्ति आपको प्राप्त हो उसे सही उपयोग मे लेते हुए और यथाशक्य अन्य सकटग्रस्त प्राणियो की सहायता करते हुए आत्मा मे सतोष और शाति का अनुभव करें। धन की लालसा को अपने मन की स्वामिनी न वनने दें। आप उसके स्वामी वने। आप मे इतनी शक्ति होनी चाहिये कि जब भी आप अपने वैभव को आत्मकल्याण मे वाधक मानें, जब

भी यह महसूस करें कि यह आत्मशाति का हनन करने वाला है, फौरन उसे ठोकर मार सके।

एक बार गुरु गोविन्दसिंह यमुना नदी के किनारे बैठे थे। उसी समय उनका एक धनी भक्त आया और उसने गुरुजी के सामने रत्नजटित सोने की दो चूडियाँ रखकर उन्हे स्वीकार करने के लिये कहा।

गुरुजी ने एक चूडी उठाई और उसे अगली पर घुमाने लगे। घूमती-घूमती वह यमुना मे गिर पडी। भक्त यह देखकर फौरन नदी मे कूद पडा और चूडी खोजने लगा। किन्तु चूडी नही मिली और वह खाली हाथ लौट आया। यह देखकर गोविन्दसिंह ने दूसरी चूडी को भी फेक दिया और कहा—देख ! चूडी वहाँ पडी है।

वास्तव मे साधु पुरुष वही है जिसकी नजर मे स्वर्ण और धूलिकण बराबर होते है। दोनो को वे समान समझते हैं और धन के अभाव मे ही सच्ची शाति का अनुभव करते है। इसीलिये मैं आप लोगो से कहना चाहता हूँ कि धन चाहे अधिक हो, कम हो या कि बिलकुल भी नही हो, फिर भी उसके विषय मे सदा समता भाव रखना चाहिये। यही सच्ची सामायिक होगी और आपका यह अडतालीस मिनिट का समय सार्थक हो सकेगा।

धन के साथ-साथ ही जन' के प्रति भी समभाव रखना अनिवार्य है। कुछ ही समय पहले मैंने आपको यह बताया है। मनुष्य को अपने परिवार सगे सबधी तथा मित्र आदि मे अत्यधिक ममत्व रखकर उनके भले के लिये ही जीवन यापन करना काफी नही है। उसके लिये दोस्त और दुश्मन सभी बराबर होने चाहिये।

सर्वप्रथम मानव को विवेक तथा ज्ञानपूर्वक यह विचार करना चाहिये कि आत्मा अमर है। इसने न जाने कितने जन्म और मरण किये हैं और उनमे ससार के समस्त प्राणियो से इसके बार-बार सभी प्रकार के सबध हुए है। विद्वद्वर प० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने इसीलिये मानव को चेतावनी है :—

है ससार असार न करना पलभर राग सयाने।
यहाँ जीव ने अब तक पहने हैं कितने ही बाने॥
पिता पुत्र के रूप जन्मता, बैरी बनता भाई।
पुत्र त्याग कर देह कभी बन जाता सगा जमाई॥
एक जगह पर जीव है, जन्मा बार अनन्त।
मरा अनन्तो बार है, कहते ज्ञानी सत॥

इन पद्यो का साराश यही है कि जब आत्मा के संसार के प्रत्येक जीव से अनेक वार सबध हो चुके है तो फिर एक जन्म के सबधियो के लिये ही मोह, ममता तथा आसक्ति के कारण अनेकानेक पाप करके भव-भ्रमण को वढाना कहा तक उचित है ?

जिस परिवार के लिये मनुष्य सैकडो कुकृत्य करके नरक के द्वार पर पहुँचता है वे सगे सबधी देह का त्याग होते ही कब काम आते हैं ? क्या वे आत्मा का साथ देते हैं ? कभी नही ! आत्मा सिर्फ अपने कर्मों का बोझा ही लादकर जन्म-जन्मान्तर तक भवभ्रमण करता रहता है।

पिता, पुत्र, मित्र, पत्नी आदि सभी अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर और अपने सुख की खातिर ही एक दूसरे से स्नेह प्रदर्शित करते हैं और वह स्नेह भी तब तक ही रहता है जब तक कि स्वार्थपूर्ति होती रहती है। अगर मनुष्य पर कभी विपत्ति आ पडती है और वह इस योग्य नही रहता कि अपनी पत्नी, पुत्र तथा अन्य सभी के सुख-साधनो को जुटा सके तो वे ही सगे सबधी अनादर और अवहेलना पूर्वक किनारा काट जाते हैं। सारे नाते रिश्ते सुख और स्वार्थ-पूर्ति के खतम होते ही टूट जाते हैं। कहा भी है —

> **सुख मे आन वहुत मिल वैठत, रहत चहू दिस घेरे।**
> **विपत पड़े सव ही सग छोडत, कोउन आवत नेरे॥**
> **घर की नार वहुत हित जासो रहत सदा संग लागी।**
> **जव ही हस तजी यह काया, प्रेत प्रेत कह भागी॥**

वास्तव मे जिन्हे मनुष्य अपना समझता है, सब स्वार्थ के साथी होते हैं। विपत्ति के समय अथवा अत समय मे कोई काम नही आता। आँख मुँदते ही सब डर कर भाग जाते हैं। अतएव उनके सयोग से सुख-प्राप्ति की आशा करना भयकर भूल है।

इसीलिये विवेकवान व्यक्ति को तीव्र मोह का त्याग करके 'एकत्व' भावना का चिंतन करना चाहिये। ससार मे असख्य जीव हैं पर क्या उनमे से कोई भी पहले का परिवार साथ लाया है ? नही ! और न ही इस जन्म का परिवार साथ जाएगा। जीव अकेला ही आता है और अकेला ही चला जाता है। राज, पाट, मणि, माणिक, स्वजन, समाज अथवा परिवार को भी जीव का सहायक नही बनता। अत आत्मा के एकत्व को सनातन सत्य मानकर ससार मे रहते हुए भी विवेक को नही खोना चाहिये। परिवार मे रहकर भी आत्मा का नाता किसी से भी नही समझना चाहिये। कहा भी गया है —

घिरे रहो परिवार से, पर भूलो न विवेक ।
रहा कभी मैं एक था, अन्त एक का एक ।।
दुर्लभ मानव भव मिला, कर एकत्व विचार ।
कैसे होगा अन्यथा, तेरा आत्मोद्धार ।।

—भारिल्ल

बधुओ ! स्वजन परिजन तथा परिवार के लोगो के साथ रहकर अपने सासारिक कर्तव्यो का पालन करते हुए भी मनुष्य को चाहिये कि वह मोह के वश होकर आत्मा का अहित न करे। किसी के प्रति अधिक राग और किसी के प्रति द्वेष-भाव न रखते हुए सदा समभाव रखे, और प्रत्येक प्राणी को आत्मा मे भिन्न माने। आत्मा का सगा कोई भी नही होता। कोई भी सबधी आत्मा को भव-भ्रमण से मुक्त नही कर सकता। उलटे, स्वार्थवश मनुष्य के राग भाव को बढावा देकर उसकी आत्मा को भारी बना देता है और अवनति की ओर उन्मुख कर देता है। इसलिये प्रत्येक बुद्धिमान् को दोस्त, दुश्मन स्वजन व परिवार सभी के प्रति सम-भाव रखते हुए अपना समय व्यतीत करते हुए आत्मा के कल्याण का प्रयत्न करना चाहिये।

अगर जीवन मे सच्चा सम-भाव आ जाता है तो मनुष्य को अपने शरीर के प्रति भी ममता नही रह जाती। ज्ञानी व्यक्ति जिस प्रकार ससार की सभी वस्तुओ को आत्मा के लिए अनिष्टकारी मानकर उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं उसी प्रकार अपने तन को भी अन्य पदार्थों की तरह नाशवान समझ कर उससे रच मात्र भी मोह नही रखते।

जो व्यक्ति भौतिक वस्तुओ को तथा उसी प्रकार अपने शरीर को भी इष्ट न मानकर अनिष्ट का कारण मानता है उसका सम-भाव वैराग्य की ओर बढता है। और वैराग्य का उत्पन्न होना तथा उसका निरतर बढना आत्मा के हलके होते जाने का चिह्न है।

यह सही है कि जब तक शरीर है तब तक उसकी स्थिरता के लिये बाह्य पदार्थों का उपयोग करना ही पडता है। अन्न और वस्त्र आदि की आवश्यकता निरतर रहती है, किन्तु इनके उपयोग करने मे अत्यत भिन्नता होती है। रागी पुरुष भोजन करते समय किसी वस्तु को प्रिय और किसी वस्तु को अप्रिय मानकर उसमे राग और द्वेष करता है। स्वादिष्ट वस्तुओ को लोलुपता पूर्वक और बेस्वाद वस्तुओ को नाक-भौंह सिकोडते हुए खाता है। जिह्वा का सुख उसके लिए प्रधान होता है। इसके विपरीत समभावी व्यक्ति

इन पद्यो का साराश यही है कि जब आत्मा के ससार के प्रत्येक जीव से अनेक बार सबध हो चुके हैं तो फिर एक जन्म के सबधियो के लिये ही मोह, ममता तथा आसक्ति के कारण अनेकानेक पाप करके भव-भ्रमण को बढाना कहा तक उचित है ?

जिस परिवार के लिये मनुष्य सैकडो कुकृत्य करके नरक के द्वार पर पहुँचता है वे सगे सबधी देह का त्याग होते ही कब काम आते हैं ? क्या वे आत्मा का साथ देते हैं ? कभी नही ! आत्मा सिर्फ अपने कर्मों का बोझा ही लादकर जन्म-जन्मान्तर तक भवभ्रमण करता रहता है ।

पिता, पुत्र, मित्र, पत्नी आदि सभी अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर और अपने सुख की खातिर ही एक दूसरे से स्नेह प्रदर्शित करते हैं और वह स्नेह भी तब तक ही रहता है जब तक कि स्वार्थपूर्ति होती रहती है । अगर मनुष्य पर कभी विपत्ति आ पडती है और वह इस योग्य नही रहता कि अपनी पत्नी, पुत्र तथा अन्य सभी के सुख-साधनो को जुटा सके तो वे ही सगे सबधी अनादर और अवहेलना पूर्वक किनारा काट जाते हैं । सारे नाते रिश्ते सुख और स्वार्थ-पूर्ति के खतम होते ही टूट जाते हैं । कहा भी है —

सुख मे आन बहुत मिल बैठत, रहत चहू दिस घेरे ।
विपत पडे सब ही संग छोडत, कोउन आवत नेरे ॥
घर की नार बहुत हित जासो रहत सदा संग लागी ।
जब ही हस तजी यह काया, प्रेत प्रेत कह भागी ॥

वास्तव मे जिन्हे मनुष्य अपना समझता है, सब स्वार्थ के साथी होते हैं । विपत्ति के समय अथवा अत समय मे कोई काम नही आता । आँख मुँदते ही सब डर कर भाग जाते हैं । अतएव उनके सयोग से सुख-प्राप्ति की आशा करना भयकर भूल है ।

इसीलिये विवेकवान व्यक्ति को तीव्र मोह का त्याग करके 'एकत्व' भावना का चिंतन करना चाहिये । ससार मे असख्य जीव है पर क्या उनमे से कोई भी पहले का परिवार साथ लाया है ? नही ! और न ही इस जन्म का परिवार साथ जाएगा । जीव अकेला ही आता है और अकेला ही चला जाता है । राज, पाट, मणि, माणिक, स्वजन, समाज अथवा परिवार को भी जीव का सहायक नही बनता । अत आत्मा के एकत्व को सनातन सत्य मानकर ससार मे रहते हुए भी विवेक को नही खोना चाहिये । परिवार मे रहकर भी आत्मा का नाता किसी से भी नही समझना चाहिये । कहा भी गया है :—

घिरे रहो परिवार से, पर भूलो न विवेक।
रहा कभी मैं एक था, अन्त एक का एक।।
दुर्लभ मानव भव मिला, कर एकत्व विचार।
कैसे होगा अन्यथा, तेरा आत्मोद्धार।।

—भारिल्ल

बधुओ ! स्वजन परिजन तथा परिवार के लोगो के साथ रहकर अपने सासारिक कर्तव्यो का पालन करते हुए भी मनुष्य को चाहिये कि वह मोह के वश होकर आत्मा का अहित न करे। किसी के प्रति अधिक राग और किसी के प्रति द्वेष-भाव न रखते हुए सदा समभाव रखे, और प्रत्येक प्राणी को आत्मा से भिन्न माने। आत्मा का सगा कोई भी नही होता। कोई भी सबधी आत्मा को भव-भ्रमण से मुक्त नही कर सकता। उलटे, स्वार्थवश मनुष्य के राग भाव को बढावा देकर उसकी आत्मा को भारी बना देता है और अवनति की ओर उन्मुख कर देता है। इसलिये प्रत्येक बुद्धिमान् को दोस्त, दुश्मन स्वजन व परिवार सभी के प्रति सम-भाव रखते हुए अपना समय व्यतीत करते हुए आत्मा के कल्याण का प्रयत्न करना चाहिये।

अगर जीवन मे सच्चा सम-भाव आ जाता है तो मनुष्य को अपने शरीर के प्रति भी ममता नही रह जाती। ज्ञानी व्यक्ति जिस प्रकार ससार की सभी वस्तुओ को आत्मा के लिए अनिष्टकारी मानकर उपेक्षा की दृष्टि से देखते है उसी प्रकार अपने तन को भी अन्य पदार्थो की तरह नाशवान समझ कर उससे रच मात्र भी मोह नही रखते।

जो व्यक्ति भौतिक वस्तुओ को तथा उसी प्रकार अपने शरीर को भी इष्ट न मानकर अनिष्ट का कारण मानता है उसका सम-भाव वैराग्य की ओर बढता है। और वैराग्य का उत्पन्न होना तथा उसका निरतर बढना आत्मा के हलके होते जाने का चिह्न है।

यह सही है कि जब तक शरीर है तब तक उसकी स्थिरता के लिये बाह्य पदार्थों का उपयोग करना ही पडता है। अन्न और वस्त्र आदि की आवश्यकता निरतर रहती है, किन्तु इनके उपयोग करने मे अत्यत भिन्नता होती है। रागी पुरुष भोजन करते समय किसी वस्तु को प्रिय और किसी वस्तु को अप्रिय मानकर उससे राग और द्वेष करता है। स्वादिष्ट वस्तुओ को लोलुपता पूर्वक और बेस्वाद वस्तुओ को नाक-भौह सिकोड़ते हुए खाता है। जिह्वा का सुख उसके लिए प्रधान होता है। इसके विपरीत समभावी व्यक्ति

सरस या नीरस सभी वस्तुओ को समभाव धारण करके ग्रहण करता है। उसका एक मात्र लक्ष्य शरीरनिर्वाह करना होता है। इस प्रकार भोज्य पदार्थ समान होने पर भी परिणामो के भेद मे दोनो की परिणति मे महान अतर पड जाता है। एक राग द्वेष के निमित्त से कर्म का बध करता है और दूसरा अपने समभावो के कारण कर्मबध मे बच जाता है। वह भली भाति समझता है कि . —

निकल रहा है जिस भोजन से सौरभ का गुब्बार,
वह तन की सगति से षटरस स्वादपूर्ण आहार।
पलक मे बन जाता नीहार ॥

यह शरीर अशुचि का ऐसा अक्षय भडार है कि इसके सयोग से पावन वस्तुएँ भी क्षण मात्र मे अपावन हो जाती है। अन्न, वस्त्र सुगधित तेल और इत्र आदि सभी वस्तुएँ इस शरीर को स्पर्श करके दुर्गंध युक्त बन जाती हैं, फिर भी मूढ व्यक्ति इस शरीर का मोह नही छोड पाते। तनिक भी व्याधि इसे हो जाए तो आकुल-व्याकुल होकर नाना आशकाओ से भर जाते है और डॉक्टर वैद्यो का ताता लगा लेते हैं।

लेकिन जब काल आ जाता है तो डॉक्टर वैद्यो की सेना भी मनुष्य के प्राण-पखेरू को उड जाने से रोक नही पाती। हजार प्रयत्न करने पर भी यमराज की निगाहो से ओझल नही हुआ जा सकता। कवि श्री भारिल्लजी ने सत्य ही कहा है .—

अम्बर मे पाताल लोक मे या समुद्र गहरे मे,
इन्द्रभवन मे, शैलगुफा मे, सेना के पहरे मे।
वज्रविनिर्मित गढ़ में या अन्यत्र कहीं छिप जाना,
पर भाई! यम के फदे मे अन्त पड़ेगा आना।

इसीलिये जो विवेकी पुरुष इस सत्य को जान लेते है वे शरीर को क्षण भगुर मानते हैं और शरीर मे रहते हुए भी शरीर से विलग रहते है। परिणाम यह होता है कि वे मृत्यु के भय से अतीत हो जाते है और जब मृत्यु का समय सन्निकट आता है तो उन्हे लेशमात्र भी खेद या क्षोभ नही होता। उनका समभाव अखडित रहता है। अज्ञानी मनुष्यो की तरह व्याधियो का आक्रमण होने पर अथवा मृत्यु काल उपस्थित होने पर वे बिलखते नही और हाय-हाय करते नही। वे जानते हैं कि शरीर नश्वर है, इसके लिये हाहाकार और चीत्कार करना निष्फल है।

विरागी व्यक्ति इस सत्य को समझ लेने के कारण अनायास ही शोक

और दु ख से बच जाते हैं और इनसे बचने के कारण कर्मबन्धनो से भी बच जाते हैं। आत्मा जब अशरीर अवस्था प्राप्त कर लेती है तो उसे किसी प्रकार का कष्ट स्पर्श भी नही कर सकता है। आत्मा को जो भी वेदनाएँ अनुभव करनी पडती हैं वे सब शरीर के निमित्त से ही।

बधुओ ! यह मानवशरीर नष्ट हो जाने पर भी किसी को लाभ नही पहुँचाता। कहते हैं :—

गाय भैंस पशुओ की चमडी, आती सौ सौ काम,
हाथी दात तथा कस्तूरी, बिकती महगे दाम।
नर तन किन्तु निपट निस्सार ॥

कहने का अर्थ यही है कि ऐसे शरीर के प्रति अत्यत राग रखना और इसको कायम रखने के लिये नाना प्रकार के कुकर्म करना आत्मा के लिए अत्यन्त अहितकर है। बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिये कि वह अपने शरीर को आत्मा के ठहरने का अस्थायी आगार समझे और किसी भी क्षण इसे छोड जाने को तैयार रहे। भगवान महावीर ने कहा है —

इम सरीर अणिच्च असुई असुइसभव।
असासयावासमिण, दुक्खकेसाण भायण ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात् यह शरीर नाशवान है, स्वय अशुचि रूप है और अशुचि पुद्गलो से ही निर्मित हुआ है। यह आत्मा का अशाश्वत निवासस्थान है। जैसे दूर की यात्रा पर निकला हुआ मनुष्य रात्रि मे विश्राम करने के लिये किसी सराय मे ठहर जाता है, उसी प्रकार यह आत्मा थोडे समय के लिये इस शरीर रूपी सराय मे ठहर गया है। यह शरीर दु ख और क्लेशो का भाजन है, इसके कारण ही आत्मा को अनेकानेक कष्ट सहन करने पडते हैं।

इसलिये यह आवश्यक है कि मनुष्य शरीर के प्रति समता भाव रखे। आज मैंने आपको बताया है कि तन मन और धन इन तीनो के प्रति अगर समभाव रखने का प्रयत्न किया जाए तो आपका सामायिक करना सार्थक है। सामायिक का उद्देश्य ही यह है कि जीवन मे प्रत्येक वस्तु के प्रति यहाँ तक कि शरीर के प्रति भी, प्रत्येक स्थिति मे, समभाव रखा जाए। सामायिक का फल, समभाव का बढना होना चाहिये।

समता के बिना सिद्धि कभी प्राप्त नही हो सकती। पूर्णतया समता आने पर ही मनुष्य सिद्ध योगी, सिद्ध भक्त, सिद्ध तपस्वी बन सकता है। समता प्रत्येक सिद्धि की दात्री है। और इसे पा लेना सामायिक का सच्चा लाभ प्राप्त कर लेना है।

●

अतिथिदेवो भव !

हिन्दू संस्कृति मे अतिथि को देवता माना गया है और अतिथिसत्कार को धर्म का एक आवश्यक अग । अतिथि की सेवा तथा सत्कार करने से मनुष्य अनेकानेक पुण्य कर्मों का वध करके उनका शुभ फल प्राप्त करता है । कहा भी है .—

"अतिथि पूजयेत् यस्तु स याति परमाम् गतिम् ।"

(जैन पचतत्र)

जो अतिथि का आदर-सत्कार करता है वह पुरुष श्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है ।

ईसाइयो के धर्मग्रथ बाइबिल मे भी लिखा है—"अतिथिसत्कार से मनुष्य देवत्व को प्राप्त होता है ।" अतिथि समाज का ही एक प्रतिनिधि होता है । अत अतिथि की सेवा के रूप मे हम समाज की भी सेवा करते हैं । समाज अव्यक्त होता है पर अतिथि, समाज की व्यक्त मूर्ति माना जाता है ।

हमारे यहा भी अतिथिसत्कार का महत्व बहुत अधिक माना जाता है । घर पर आए हुए अतिथि का सत्कार करना तो प्रत्येक व्यक्ति अपना फर्ज समझता ही है, इसके अलावा भी साधु-सतो के दर्शनार्थ आनेवाले सैकडो व्यक्तियो का स्वागत-सत्कार भोजन-पान आदि का प्रबध भी समाज के सदस्य अत्यत प्रेमपूर्वक तथा हार्दिक लगन से करते हैं । स्वधर्मी बधुओ का अपने घर आगमन वे बडे भारी सौभाग्य का कारण मानते हैं ।

नीतिकारो ने अतिथि को समस्त तीर्थों से भी अधिक पवित्र माना है :—'सर्वतीर्थमभ्यागत ।' अतिथि का द्वार पर आना क्या है, मानो सभी तीर्थ इकट्ठे होकर हमारे दरवाजे पर आ पहुचे हो । अन्य तीर्थो के निकट तो मनुष्य को चलकर जाना पडता है किन्तु अतिथि ऐसा जगम तीर्थ है जो कि स्वय ही चलकर आपके द्वार पर आ जाता है । इसलिये अतिथि को अत्यन्त पूज्य तथा आदरणीय मानकर यथाशक्य उसकी सेवा तथा सत्कार अवश्य

करना चाहिये। हमारे भारत मे माता-पिता तथा अतिथि तीनो को देवता-स्वरूप मानकर इनकी पूजा और सेवा करने की प्रेरणा दी गई है। कहा भी जाता है—

"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, अतिथिदेवो भव।"

अब विचारणीय यह है कि अतिथि का सत्कार कैसे किया जाय? इसके तीन प्रकार हो सकते है। प्रथम दर्शन मे स्वागत, नमस्कार तथा अभिवादन् आदि करना। पश्चात् मधुर वचनो से कुश-लक्षेम पूछना और उसके वाद भोजन पान तथा शयन आदि की यथाशक्ति सुविधा देना।

प्रथम साक्षात्कार मे ही आथितेय की भावना का अतिथि पर अत्यन्त प्रभावपूर्ण असर होता है। किसी भी व्यक्ति के द्वार पर आते ही मधुर मुस्कान द्वारा उसकी अभ्यर्थना करने से आनेवाले का हृदय कुछ प्राप्त किये बिना ही प्रफुल्लित हो जाता है। आगत का मार्गश्रम अथवा कष्ट स्नेहपूरित स्वागत से ही मानो आधा दूर हो जाता है।

इसके विपरीत अतिथि के आते ही वेमन से उसकी ओर दृष्टिपात किया जाय तो नमस्कार अथवा अभिवादन करने पर भी अतिथि का हृदय कुठित और सकुचित हो जाता है। और उसके मन में आने का पश्चात्ताप होने लगता है। ऐसी स्थिति एक सुप्रसिद्ध कहावत को चरितार्थ करती है —

"प्रथमग्रासे मक्षिकापात।" अर्थात् भोजन आरम्भ करते ही प्रथम कौर मे ही मक्खी गिर पड़ी।

ऐसे सयोग से भोजन के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है और वेमन से खाना खाया जाता है। इसी प्रकार अतिथि को आते ही अपने स्वागत मे नीरसता महसूस होती है तो उसे जितना भी ठहरना होता है वह समय व्यतीत करना कठिन हो जाता है।

लोकोक्ति है कि अनेक वार भगवान् स्वय भक्तो की परीक्षा लेने के निमित्त से भिक्षुक, साधु, वृद्ध अथवा किसी पशु-पक्षी का रूप धारण करके आते हैं। किन्तु नकली भक्त, जो कि सिर्फ स्वार्थसिद्धि के लिये भगवान की भक्ति करते है, उनमे भगवान का रूप नही देखते। वे तिरस्कार और उपेक्षा से, अनादर पूर्वक अभ्यागत को भगा देते हैं, कटुक वचन कहकर मानसिक कष्ट पहुँचाते हैं। कभी कभी तो मार-पीट करके दुतकार भी देते हैं। ऐसे व्यक्ति क्या भगवान् की कृपा के अधिकारी वन सकते हैं? नही।

एक ब्राह्मण श्मशान के पास किसी टूटे-फूटे मदिर मे रहता था। वह साईं वावा का वडा भक्त था। प्रतिदिन अपने हाथ से भोजन बनाकर वह मसजिद मे ले जाता और साईं वावा को खिलाकर फिर स्वय अन्न-जल ग्रहण करता था।

एक दिन वावाजी ने ब्राह्मण मे पूछा—तुम्हारे यहाँ उस मदिर मे कोई और भी आता है ? ब्राह्मण ने विनयपूर्वक उत्तर दिया—वहाँ कोई नही आता वावा !

साईं महाराज ने कहा—अच्छा, कभी कभी मैं आया करूँगा।

एक दिन कडाके की धूप थी। महाराज भोजन की थाली लेकर वावा के पास जा रहे थे। रास्ते मे उन्हे भूख मे व्याकुल एक कुत्ता दिखाई दिया। ब्राह्मण ने सोचा— गुरु को भोजन कराने के वाद ही इसे खिलाना ठीक रहेगा। वह वहाँ से चल दिया।

दूसरे दिन जव वह भोजन का थाल लेकर जा रहा था तो मदिर के पास ही एक शूद्र भोजन के लिये गिडगिडाने लगा। लेकिन ब्राह्मण को तो अपने गुरु के पास जल्दी पहुँचना था, अत वह तेज़ी से चला गया।

जव वह मसजिद मे पहुचा तो साईं वावा ने कहा —बिरादर ! दो दिन से कडी धूप होने के कारण मैं स्वय ही तुम्हारे पास आ जाता हू। तुम यहा आने की व्यर्थ तकलीफ क्यो करते हो ? साईं वावा ने अपने प्रिय शिष्य की आँखें खोल दी।

ब्राह्मण की आँखो के आगे कुत्ता और शूद्र दोनो ही नाच गए। वह गुरु के पैरो पर गिरकर क्षमा मागने लगा। साईं वावा ने उसे स्नेहपूर्वक उठाया और कहा वेटा ! कुत्ते मे, शूद्र मे और समस्त अन्य प्राणियो में परमात्मा का वास होता है। भगवान घट-घट वासी है, अत प्रत्येक को उन्ही का रूप मानो। कभी किसी का तिरस्कार और अनादर मत करो। दीनदयाल गिरि ने भी यही कहा है —

साईं समय न चूकिये यथा शक्ति सनमान।
को जानै को आह है, तेरी पौरि प्रमान॥
तेरी पौरि प्रमान समय, असमय तकि आवै।
ताको तू जिय खोलि हृदय भरि कठ लगावै॥
कह गिरधर कविराय, सबै या मे सधि आई।
सीतल जल फल फूल, समय जनि चूको साँई॥

बन्धुओ ! प्राचीन समय मे तो प्रजावत्सल राजा महाराजा भी वेश परिवर्तन करके प्रजा की स्थिति की जानकारी करने के लिये तथा कभी-कभी प्रजा की सद्भावना सभी प्राणियो के प्रति बढे, इस उद्देश्य से एव उन्हे मैत्री का पाठ पढाने के लिये अतिथि बनकर किसी के यहाँ पहुँच जाया करते थे।

लगभग तीन, चार सौ वर्ष पूर्व रूस मे आइडान नामक राजा हुआ था। एक बार वह लोगो की अतिथि-सेवा की भावना जानने के लिये एक बहुत ही छोटे गाँव मे जा पहुँचा।

अत्यन्त साधारण वेश-भूषा मे उसने गाँव के घर घर मे जाकर रात्रि-विश्राम के लिये स्थान की माँग की। बनावटी दीनता से बहुत प्रार्थना की। किन्तु किसी ने उसकी प्रार्थना पर ध्यान नही दिया। राजा के मैले व फटे कपडे देखकर सभी ने उसे फटकार कर भगा दिया।

अपनी प्रजा के इस व्यवहार से राजा बहुत निराश हुआ। पर अन्त मे वह एक जर्जर झोपडी के द्वार पर पहुँचा। उसमे रहने वाला दरिद्र किसान बाहर आया और बडे स्नेह से वह भिक्षुक वेशधारी राजा को अन्दर ले गया। अपनी फटी गुदडी पर राजा को बैठाकर किसान ने शीतल जल तथा नाम-मात्र के बचे हुए भोजन से राजा का सत्कार किया। राजा को घास बिछाकर उसी गुदडी पर सुलाया और स्वय जमीन पर पड रहा।

दूसरे दिन जब राजा ने जाना चाहा तो उसने हाथ जोडकर कहा—भाई ! आज और रुक जाओ। कल मेरे बच्चे का नामकरण सस्कार है। उसके बाद जाना यद्यपि मैं गरीब हूँ पर जो कुछ भी रूखा-सूखा होगा, हम खा-पीकर आनन्द से दिन बिता लेंगे।

राजा बहुत ही गद्गद हो गया। बोला-आज तो मुझे जाने दो। पर कल मैं जरूर आऊँगा। तुम मुझे वचन दो कि मेरे आने से पहले बच्चे का नामकरण नही करोगे। किसान ने हर्षित होकर वायदा कर लिया।

दूसरे दिन नियत समय तक भी अतिथि नही आया। किसान प्रतीक्षा करता रहा। यहाँ तक कि मुहूर्त भी निकल गया लोग परिहास करने लगे – वाह ! जैसे तुम ! वैसा तुम्हारा अतिथि। अब वह आएगा क्या ? गनीमत है कि तुम्हारे पास कुछ माल-मत्ता नही था अन्यथा तुम्हारा अतिथि तो वह भी समेट कर ले गया होता।

किसान ने किसी की बात पर ध्यान नही दिया। वह सडक पर आँखें बिछाए अपने अतिथि की राह देखता रहा । आखिर मुहूर्त के तीन घण्टे पश्चात् उसका प्रतीक्षा करना सार्थक हुआ। सडक पर उसे धूल उडती दिखाई दी। कुछ ही क्षणो के पश्चात् आगे-आगे अगरक्षक और पीछे-पीछे राजा आ पहुँचा । वह घोडे से उतर कर किसान के पास आया और उसे नमस्कार किया।

किसान वेचारा भयभीत हो गया और राजा की ओर आश्चर्य से देखने लगा। उसके मुहँ से बोल ही नही फूटा। तब राजा ने अत्यत स्नेह-पूर्वक कहा—भाई इतने जल्दी भूल गए ! मैं ही तो तुम्हारा कल वाला अतिथि हू । तुम्हारे अतिथिसत्कार से मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ। और उसका वदला चुकाने आया हूँ। आज से तुम्हारा बच्चा मेरा भी धर्म-पुत्र होगा और मेरे सरक्षण मे रहेगा। लाओ उसे मेरी गोद मे दो।

सरल किसान दम्पती की आँखो मे से हर्ष के आंसू गिर पडे। राजा ने बच्चे को अपने बच्चो के समान ही माना और पढा लिखाकर वडा योग्य वना दिया । किसान के लिये भी झोपडी के स्थान पर सुन्दर भवन वनवा-दिया। गाँव के समस्त व्यक्तियो को अतिथिसेवा का महत्व मालूम हो गया।

कथन का सार यही है कि मनुष्य अपने द्वार पर आए हुए किसी भी व्यक्ति का अनादर तिरस्कार न करे। सभी मे परमात्मा का रूप माने। सब के प्रति स्नेह भाव प्रदर्शित करे।

अतिथि की मलिन वेश-भूषा अथवा दरिद्रता देखकर अतिथि का निरादर करना अत्यन्त अनुचित है । कोई भी मनुष्य धन-वैभव अथवा सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभरण से ही वडा नही माना जाता। वडा और महान व्यक्ति वह होता है जिसका हृदय विशाल और सासारिक वस्तुओ से विरक्त होता है, जिसकी लालसाएँ कम और त्याग की भावना अधिक होती है। त्यागी व्यक्ति धन-वैभव से दूर रहता है। उसे यह परवाह नही होती कि उसके शरीर पर वस्त्र कीमती है या सस्ते, साफ हैं या मैले। महान व्यक्ति आत्मा की स्वच्छता पर जोर देते हैं, उसका ध्यान रखते हैं । वे वस्त्रो की और शरीर की स्वच्छता अथवा मलिनता को महत्व नही देते।

इसलिए अतिथि के रूप मे कब कोई महान व्यक्ति आपके दरवाजे

पर आ जाएगा तो आप नही समझ पाएँगे अगर आपका ध्यान बाह्य सौन्दर्य और धन के आडम्बर पर ही रहेगा। वैसे भी कहा जाता है कि लक्ष्मी और सरस्वती मे वैर होता है। दोनों एक ही जगह निवास नही कर सकती। हम प्राय देखते हैं कि एक महादरिद्र व्यक्ति के पास भी ज्ञान का अखूट खजाना होता है। फटे हाल होते हुए भी वह अपने सपर्क मे आने वाले को धर्म का मर्म और मुक्ति का मार्ग बता सकता है। वह स्वय अपना और अन्य का कल्याण करने मे समर्थ होता है। उसका भी उद्देश्य समार के बन्धनो से मुक्त होना है सासारिक वैभव मे लिप्त होना नही।

सयोगवश कभी ऐसा व्यक्ति आपके यहा अगर अतिथि बनकर आएगा तो वह अपनी ज्ञानगरिमा से सज्जित होगा, उसकी आत्मिक ज्योति तीव्र होगी, आत्मा सरल और सौन्दर्यमयी होगी। वस्त्र हो सकता है मलिन हो और जर्जर या फटे भी हो। किन्तु उनके कारण आप भुलावे मे न आ जायें। फटे पुराने वस्त्रो के नीचे छिपी हुई महानिर्मल आत्मा को न पहचान पाएँ तो यह आपका महान् दुर्भाग्य होगा।

कुछ ऐसे भक्त होते हैं जिनके हृदय मे भगवान के सिवाय किसी और के लिये स्थान नही होता। धन को भूत मानकर वे उससे दूर भागते है। भक्तो का लक्ष्य अपने परलोक को सुधारना होता है, धन की प्राप्ति नही। कृष्ण के मित्र सुदामा जितने दरिद्र थे उतने ही अपने भगवान के भक्त और अपनी स्थिति से सतुष्ट थे। उनकी पत्नी ने एक बार उन्हें अपने मित्र कृष्ण के पास जाकर कुछ सहायता (धन-पैसे की) प्राप्त करने के लिये विवश किया। बेचारे बडे परेशान हुए और उन्होंने पत्नी को समझाने की कोशिश की। कहा —

> सिच्छक हौं सगरे जग को तिय, ताको कहा अब देति है सिच्छा।
> जो तप कै परलोक सुधारत, सपति की तिन के नहि इच्छा॥
> मेरे हिये हरि के पद पंकज, बार हजार लै देखु परिच्छा।
> औरनि को धन चाहिये बावरि ब्राह्मण को धन केवल भिच्छा॥

अर्थात् बावली पत्नी! मैं तो सारे जग का शिक्षक हूँ। तू मुझे क्या शिक्षा दे रही है! मेरे हृदय मे तो हरि के चरणो की भक्ति के अलावा और कुछ नही है, चाहे तो हजार बार परीक्षा लेकर देख ले। जिन्हे परलोक सुधारना होता है, उन्हें सपत्ति की इच्छा नही होती। धन की चाह तो औरो को होती है। ब्राह्मण का धन तो बस वही है-जो भिक्षा मे मिल जाय।

कैसी निस्पृहता है ! ऐसे साधु, सत, भक्त और फकीर भी आप के द्वार पर अतिथि के रूप मे आते हैं। क्या वे आप के तिरस्कार के योग्य है ? आप जिस धन के लिये रात्रि-दिवस पागल रहते हैं, उसी धन को ऐसे फकीर ठोकर मार देते है। फिर महान् कौन है-आप या वे ? वे तो अपनी फकीरी मे ही मस्त रहते है और गाते हैं—

हर आन हंसी, हर वक्त खुशी।
हर वक्त अमीरी है बाबा।
जब आलम मस्त फकीर हुए।
तब दिलगीरी है क्या बाबा ?

वास्तव मे फकीरो के लिये अमीर और गरीब मे कोई अन्तर नही होता। उनके लिये कोई घर अपना और कोई पराया नही होता। यही नही, वे स्व और पर मे भेद नही समझते। ससार का प्रत्येक मनुष्य ही नही किन्तु प्रत्येक पशु-पक्षी भी उनके लिये भगवान् का ही रूप होता है।

कहते है— सत नामदेव खाना बना रहे थे। रोटिया बना चुकने पर वे किसी काम से कही अन्यत्र चले गए। इतने मे एक कुत्ता आया और रोटिया मुह मे उठाकर भागा। उसी समय नामदेव लौटकर आ गए। वे घी की कटोरी हाथ मे लेकर यह कहते हुए कुत्ते के पीछे दौडे कि,—"भगवन !" रोटिया रुखी हैं, अभी चुपडी नही हैं, घी लगा लेने दीजिये फिर भोग लगाइये।

सम-दर्शन का यह एक ज्वलत निदर्शन है। आज हम कुत्ते की तो बात जाने दीजिए, किसी मनुष्य को भी द्वार पर आया देखकर झुझला उठते है। कहते हैं—"बाबा ! आगे जाओ यहाँ सदाव्रत नही चल रहा है।"

हाँ, तो मैं आप को यह बता रहा था कि द्वार पर आने वाले अभ्यागत को देखकर क्रोधित होना, झुझलाना अथवा अपमानित करना अमानवीय व्यवहार है। यह क्रूरता और निर्दयता का सूचक है। ऐसा करना भगवान् का अपमान करना है।

महा तपस्वी हरिकेशी मुनि एक बार यज्ञशाला की ओर भिक्षार्थ पहुँच गए। उन्हे दूर से ही देखकर यज्ञ करने वाले जातिमद से परिपूर्ण और हिंसक ब्राह्मण कहने लगे—

कयरे आगच्छइ दित्तरूवे, काले विकराले फोक्कणासे।
ओमचेलए पसुपिसायभूए, संकरदूसं परिहरिय कंठे॥

—उत्तराध्ययन १२-६

काला-कलूटा चपटी नाकवाला विकराल पिशाच जैसा यह कौन पागल आ रहा है । अत्यन्त जीर्ण और घूरे पर से उठाए हुए वस्त्रो की कथा गले में डाले यह काला और महा भयकर व्यक्ति कौन है ?

इतना कहकर ही यज्ञकर्ता सतुष्ट नही हुए । उन्होंने मुनि को डडो से, बेंतो से और चाबुको से मारा—

दडेहिं वित्तेहि कसेहि चेव, समागया त इसिं तालयंति ।

—उत्तराध्ययन सूत्र १२-१९

अपने अतिथि के साथ यज्ञ करने वालो ने कितना दुर्व्यवहार किया । यद्यपि, इसका फल मुनि की भक्ति करने वाले एक यक्ष ने उसी समय उन्हें दे दिया । किन्तु मेरा आशय तो सिर्फ यही बताना है कि ऐसा व्यवहार कितना अभद्रतापूर्ण और अनुचित है । एक मानव दूसरे मानव के साथ इस प्रकार दुर्व्यवहार करे, अतिथि का अपमान करे, यह अत्यन्त तुच्छता का लक्षण है ।

बघुओ ! एक बात और भी आप को जानना चाहिये । वह यह कि अतिथि कौन होता है ? अतिथि आप सिर्फ उन्हे ही न मानें जो आपके रिश्तेदार हो, आपके आत्मीय हो, या आप के परिचित मित्रादि हो । 'अ-तिथि' अर्थात् बिना सूचना के, किसी दिन अथवा किसी भी समय जो आप के द्वार पर आ गया वह साधारणत अतिथि कहलाने का अधिकारी है । जिसके लिये कोई तिथि, कोई दिन या कोई भी समय नियत नही है, वह आप का अतिथि है । आप के नातेदार, रिश्तेदार, मित्र, बघु, बाधव तथा साथ ही साधु, सत और फकीर जो भी आप के यहाँ आते हैं, सभी आप के अतिथि हैं और वे यथायोग्य आदर-सत्कार पाने के अधिकारी हैं ।

प्रथम साक्षात्कार के पश्चात् किस प्रकार अतिथि का सत्कार किया जाय ? यह प्रश्न सामने आता है । धनी व्यक्ति अपने अतिथि को नाना प्रकार के व्यञ्जन मेवा मिष्टान्न आदि का भोजन करा सकते हैं । मुलायम गद्दे तकिये और रजाइयाँ प्रस्तुत करके उनको शयन की सुविधा दे सकते हैं । किन्तु एक दरिद्र व्यक्ति यह सब नही कर सकता । उसके लिये तो सभव है कि वह स्वय दो वक्त अपने लिये खाना भी न जुटा पाता हो, तो वह अतिथि का इतना शानदार स्वागत-सत्कार कैसे कर सकता है ? तो क्या रूखा-सूखा खिलाना और आराम करने के लिये गुदडी दे देना ही उस दरिद्र का अतिथि-सत्कार नही है ?

वास्तविक सत्कार तो सद्भावना से होता है । एक धनी व्यक्ति अपने वैभव का प्रदर्शन करने के लिये अथवा ख्याति प्राप्त करने के लिये गर्वपूर्वक अतिथि का सत्कार करता है । स्वय करने मे अपनी हेठी मानकर नौकरो को अतिथि के भोजन का अथवा अन्य सेवा का कार्य सौंप देता है । अनेक घरो मे तो साधु-साध्वी को आहार भी रसोइये या रसोइदारिने ही प्रदान करती हैं । घर के मालिक या मालकिनें अपने-अपने कार्यों मे अथवा आराम मे ही रहते है ।

तो भाइयो ! यह अतिथि-सत्कार अथवा साधु-साध्वियो को आहार-दान वास्तविक फल का प्रदाता हुआ क्या ? नही ! इसकी अपेक्षा तो वह गरीव व्यक्ति वास्तव मे अतिथि का सच्चा सत्कार करने वाला है जो अपने अतिथि को हाथ पकडकर अपने सामने विठाता है। स्वय पखा झलता हुआ ज्वार वाजरे की मोटी रोटियाँ अथवा चना-चवैना जो कुछ भी हो— अत्यन्त प्रेमपूर्वक खिलाकर तव स्वय खाता है । वही व्यक्ति सच्चा दाता है जो स्वय द्वार पर खडा रहकर किसी सत के आगमन की प्रतीक्षा मे व्याकुल पलकें विछाए रहता है और भाग्यवश अगर किसी का आगमन हो जाए तो रोटी का चौथाई टुकडा भी अपने हाथ से साधु के पात्र मे देकर अत्यन्त तृप्ति का अनुभव करता है ।

एक वार दो सत कही चातुर्मास करने के उद्देश्य से जा रहे थे । रास्ते में वे एक गाँव मे रात्रि विताने के लिये ठहरे । उनका गतव्य स्थान उस गाँव से सिर्फ दस माइल ही दूर था और सात दिन चातुर्मास प्रारम्भ होने मे शेष थे ।

किन्तु सयोग ऐसा हुआ कि वे जिस दिन उस गाव मे पहुँचे उसी दिन से वर्षा प्रारम्भ हो गई और लगातार सात दिन तक झडी लगी रही । मजवूर होकर सतो को उसी गाव मे चातुर्मास करना पडा । गाव छोटा-सा था और उसमे भी कई घरो के व्यक्ति साधु की क्रियाओ से विशेष परिचित नही थे । पर एक जैन श्रावक वहाँ रहते थे जो छोटा गांव होने से तथा वैश्य होने के कारण सेठ कहलाते थे । किन्तु वे नाम के ही सेठ थे । सेठाई की एक भी वस्तु उनमे वही नहीं थी । पति-पत्नी धर्माराधन करते हुए मुश्किल से अपना निर्वाह करते थे ।

उन्होने जव सतो का वहा चातुर्मास करने का निश्चय जाना तो अत्यन्त हर्षित हुए और अपने भाग्य को सराहने लगे । हाथ जोड़कर वोले—

महाराज ! बडी कृपा हुई हम पर। आप प्रसन्नतापूर्वक यहा चातुर्मास करिये ।

पर चातुर्मास कैसा हुआ ? जब सत उनके घर गोचरी के लिये पधारे तो सेठ ने भोजन उन्हे वहरा दिया और दम्पती दोनो हाथ जोडकर बोले—भगवन् ! उपवास पचक्खा दीजिये। सत उसी क्षण समझ गये कि कारण क्या है !

उसके बाद सतो ने भी चातुर्मास मे खूब तपस्या की। उपवास, वेले, तेले व अठाइया। और उधर सेठ सेठानी का भी नियम ही बन गया था कि जिस दिन सत हमारे यहा पधारे उस दिन हमे उपवास करना। इसी प्रकार मुनिराज और सेठ-सेठानी की तपस्या चलती रही और चातुर्मास समाप्त हुआ।

सत वहा से रवाना होकर उस शहर मे आए जहा उन्हे चातुर्मास करना था। वहा एक सेठ के यहा आहार के लिये गए। सेठ ने अनेक प्रकार के व्यजन भाव-पूर्वक उन्हे वहराए। रास्ते मे मुनिराज का शिष्य बोला—गुरु महाराज ! बहुत से देखे पर ऐसा उदार सेठ मैंने कही नही देखा।

गुरुजी बोले—वत्स, तुम बहुत भोले हो। इस सेठ की क्या भावना है। असली भावना तो उस गाव के सेठ की थी जिसने स्वय तपस्या कर करके हमारे चातुर्मास को सम्पन्न किया। इसके पास तो अटूट लक्ष्मी है, अत इसकी भावना अच्छी हो तो कोई बडी बात नही। दरिद्र होने पर भी जिसका हृदय विशाल होता है उसका महत्व अधिक होता है। सच्चे हृदय से दिया हुआ एक दाना भी मधुर और पवित्र होता है और मन मे तनिक सी भी विकृति आ जाने पर मेवा, मिष्टान्न और दूध-मलाई आदि का दान भी व्यर्थ हो जाता है। नीरस लगने लगता है।

एक स्त्री किसी साधु से प्रार्थना करती हुई बोली—महाराज, आप कृपा करके हमारे यहा पधार कर हमे अनुगृहीत कीजिये।

जब साधु उसके यहा गए तो वह एक कटोरे मे दूध उडेलने लगी। दूध डालते समय भगोने की सारी मलाई उस कटोरे मे गिर पडी। स्त्री के मुह से उस वक्त अचानक निकल गया 'अरे-अरे !' फिर भी उसने कटोरे मे शक्कर डालकर दूध साधु के सामने रख दिया।

साधु ज्ञान-उपदेश की बाते करते रहे पर उन्होने दूध लिया नही। स्त्री ने कहा—महाराज ! यह दूध तो लीजिये। साधु ने उत्तर दिया—

तुमने मलाई और शक्कर के साथ-साथ एक और चीज भी इसमें मिला दी है। अत यह दूध मैं नही ले सकता।

स्त्री ने बडे आश्चर्य से पूछा—और क्या मिला दिया है महाराज!

साधु मुसकराते हुए बोले—तुमने इसमे 'अरे-अरे!' और मिला दिया है। अत जिस दूध मे 'अरे-अरे!' मिला हुआ है वह दूध मैं नही ले सकता।

ऐसे उदाहरणो से साबित होता है कि किसी को खिलाते समय अगर रच-मात्र भी पश्चात्ताप अथवा दुख की भावना आ जाए तो वह खाद्य-पदार्थ नीरस लगने लगता है। और प्रेम से रूखा-सूखा भी खिलाया जाए तो वह अमृत की तरह मधुर मालूम देता है।

सुदामा जब कृष्ण से मिलने आए थे तो सुदामा की पत्नी ने थोडे से समा के चावल अत्यन्त श्रद्धा व प्रेमपूर्वक पति की चद्दर के छोर मे बाँध दिये थे कि इन्हे कृष्ण को अर्पित करना।

किन्तु जब सुदामा को कृष्ण अपने महल मे ले गए और सुदामा ने राजवैभव को देखा तो महान सकोच के कारण वे अपने बगल मे दबी हुई चावलो की पोटली को खोल नही सके। कृष्ण अन्तर्यामी थे। वे सब समझ गए और मधुर उपालम्भ देते हुए बोले—मित्र! भाभी ने मेरे लिये कुछ दिया दिखता है पर तुम देते क्यो नही हो? बगल मे पोटली दबाकर क्यो बैठे हुए हो?

> कछु भाभी हमको दियो सो तुम काहे न देत।
> चाँपि पोटरी काँख मे, रहे कहो केहि हेत॥

बडी कठिनाई से तब सुदामा ने अपनी छोटी सी पोटली खोलनी शुरू की। किन्तु कपडा इतना जीर्ण था कि वह फट गया और चावल मणिमय आगन पर बिखर गए। चावलो का बिखरना था कि कृष्ण ने लपककर उन्हें मुट्ठी मे भर लिया और कच्चे ही चबाने लग गए। कवि नरोत्तमदासजी कहते हैं :—

> भौन भरे पकवान मिठाइन, लोग कहैं निधि हैं सुषमा के।
> साँझ सबेरे पिता अभिलाषत, दाख न चाखत सिंधु क्षमा के॥
> ब्राह्मण एक कोऊ दुखिया सेर-पाउक चाउर लायो समा के।
> प्रीति की रीति कहा कहिए तेहि, बैठे चबावत कत रमा के॥

जिनके भवन पकवानो और मिठाइयो से भरे पडे हैं और पिता लाख निहोरे सुबह शाम करते है तब भी जो, एक दाख भी मुह में नही लेते, वे ही

रमा-पति कृष्ण दरिद्र ब्राह्मण के लाए हुए पाव भर समा के चावलो को बैठे हुए चबा रहे हैं ! क्या कहा जाए इस प्रीति की रीति के विषय मे ?

अर्थात् प्रेम से लाए हुए मोटे चावल भी कृष्ण को इतने मधुर लगे कि वे उन्हें कच्चे ही खाने लग गए। क्या इतनी मिठास उन चावलो मे थी ? नही। वह थी प्रेम और श्रद्धा की भावना मे। रहीम ने भी कहा है—

अमी पियावत मान विन, रहिमन मोहि न सुहाय।
प्रेम सहित मरिवो भलो, जो विष देइ बुलाय॥

बंधुओ ! अव आप समझ गए होंगे कि प्रेम से किया हुआ स्वागत तथा खिलाया हुआ भोजन कितना मधुर होता है। अतिथि का सत्कार इसी प्रकार करना चाहिए। किसी को भी यह नही सोचना चाहिये कि मैं अमीर नही हूँ, गरीव हूँ। किस प्रकार अतिथि का सत्कार करूँ।

पूँजीपति की अपेक्षा आत्मीयता की भावना रखने वाला निर्धन व्यक्ति मेरी दृष्टि से, अतिथि का सत्कार अधिक अच्छा कर सकता है। यद्यपि ससार मे पूँजीवाले अधिक मिलेगे और भावना वाले कम, किन्तु भावना वाले मनुष्य का किया हुआ सत्कार अधिक महत्व रखता है। रामचन्द्र ने शवरी का आतिथ्य स्वीकार करके उसके जूठे वेर भी अत्यत सरलतापूर्वक खाए थे। क्योकि वे हृदय के सम्पूर्ण स्नेह और असीम श्रद्धा के साथ दिये गए थे।

अतिथि का सत्कार करने वाले व्यक्ति को अतिथि के कुल अथवा जाति को भी महत्व नही देना चाहिये। अतिथि किसी भी जाति का क्यो न हो वह आदरणीय और पूज्य होता है। चाणक्य ने कहा भी है—

"सर्वस्याभ्यागतो गुरु ।"

अर्थात् अभ्यागत (अतिथि) सभी वर्णों का गुरु होता है।

वास्तव मे मनुष्य को उसके श्रेष्ठ कार्य और आचरण ही श्रेष्ठ वनाते हैं, जाति अथवा कुल नही। कभी किसी अतिथि मे यह नही पूछना चाहिये कि तुम्हारी जाति क्या है, क्योकि विधाता के दरवार मे जाति का कोई वन्धन नही होता। मनुष्य को शुभ अथवा अशुभ फल उसके उत्तम अथवा अधम कार्य ही देते हैं। बुद्ध ने भी यही कहा है —

"जन्म से नही वल्कि कर्म से ही मनुष्य शूद्र अथवा ब्राह्मण बनता है।"

वास्तव मे आत्मा की कोई जाति-पाँति नही होती। यह मूल रूप से शुद्ध चैतन्य स्वरूप और ज्ञान स्वरूप ही है, केवल कर्मों के योग से इसको

शरीर धारण करने पडते है —

अयमात्मैव चिद्रूप शरीरी कर्मयोगत ।

—हेमचन्द्राचार्य

ज्यो ज्यो कर्मों का नाश होता जाता है त्यो त्यो आत्मा मोक्ष के समीप पहुचती जाती है। धर्म-ध्यान और शुक्लध्यान रूप अग्नि के द्वारा कर्मों को जला दिया जाता है और आत्मा दोप रहित हो जाती है। और आत्मा का दोष रहित हो जाना ही मुक्ति को प्राप्त करना है —

"क्षीणकर्ममलो जीवस्तथा याति शिवालयम् ।"

—पद्मपुराण

अर्थात् — जिस समय मे यह आत्मा कर्मो के वधन मे सर्वथा मुक्त हो जाती है, और पुन. न वधने के कारण कर्म शेप नही रहते है उस अवस्था मे यह शुद्ध, बुद्ध और अनिरुद्ध होकर सर्वश्रेष्ठ स्थान रूप मोक्ष मे पहुच जाती है।

वधुओ! आप भलीभाति समझ गए होगे कि आत्मा को मुक्त करने के लिये, उसे मोक्ष प्राप्त करने के लिये सयम और साधना के द्वारा कर्मों का नाश करना आवश्यक है न कि ऊँची जाति मे अथवा सम्पन्न कुल मे उत्पन्न होना।

आपको हरिकेशी मुनि के विपय मे वताया था कि वे चाडाल कुल मे उत्पन्न होकर भी घोर तपस्वी, महा सयमी और जितेन्द्रिय मुनि थे। उनके माहात्म्य के कारण ही तिंदुक वृक्ष का निवासी यक्ष सदैव उनकी सेवा मे रहता था। जिस समय यज्ञ करने वाले ब्राह्मण हरिकेशी मुनि का अपमान कर रहे थे और उन्हे सता रहे थे तव उस यक्ष ने ही उन लोगो को अपने कुकार्यों का फल उसी समय प्रदान किया और उन सव ब्राह्मणो की आखे खोल दी। परिणामस्वरूप ब्राह्मण वडे लज्जित और मुनि के माहात्म्य से प्रभावित हुए और उन्होने घोर पश्चात्ताप के साथ वडे आदर व श्रद्धा से मुनि को मासखमण का पारणा कराया।

यह देखकर देवो ने वहा दुदुभिया वजाई और सुगधित जल व पुष्पो की वर्षा की। साथ ही एक स्वर से घोपणा की —

सक्खं खु दीसई तवो विसेसो,
ण दीसई जाइ विसेस कोई ।
सोवागपुत्तं हरिएस साहु,
जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ॥

देवो ने कहा कि यह तो साक्षात तप का ही माहात्म्य दिखाई देता है। जाति की तो कुछ भी विशेषता नही है। चाण्डाल पुत्र हरिकेशी मुनि को देखो, जिनकी ऋद्धि कितनी महान् और प्रभावशाली है।

इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि कुल और जाति से कोई महान् नही होता। महान तो अपने आचरण तथा कर्मों मे वनता है। इसलिये गुण-हीन किन्तु उच्च कुलोत्पन्न तथा वैभवशाली अतिथि के आगमन पर फूला नही समाना, और किसी महान् किन्तु दरिद्र और हीन-कुल के व्यक्ति के आजाने पर उसका तिरस्कार और अपमान करना हृदय की तुच्छता और मूर्खता का लक्षण है।

आशा है मेरे आज के वक्तव्य से आप अतिथि-सत्कार का महत्व भली-भाति समझ गए होगे। और जीवन मे आतिथ्य को अत्यत महत्वपूर्ण स्थान देते हुए सच्चा मानव वनने का प्रयत्न करेगे।

मृत्यु-महोत्सव

सज्जनो ! आज हम 'मृत्यु-महोत्सव' के विषय मे कुछ विचार करेंगे। 'मृत्यु-महोत्सव' नाम सुनकर आप मे से अनेक महानुभाव आश्चर्य का अनुभव करेंगे। यह विचार करेंगे कि जीवन मे अनेक महोत्सव आते है और उनके लिये हमे कुछ-न-कुछ तैयारी करनी पडती है। तभी वह महोत्सव सुचारु रूप से सपन्न होता है। किन्तु मृत्यु के लिये क्या करना है ? वह तो स्वय ही आ जाएगी—उसे महोत्सव मानने पर भी और न मानने पर भी। मृत्यु के लिये परेशान होने की क्या आवश्यकता है ?

पर यह विचार वास्तव मे उचित नहीं है। यह सही है कि मृत्यु अवश्यम्भावी है। उसके लिये कुछ तैयारी की जाय या न की जाय वह आयेगी, रुकेगी नही। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को मृत्यु के समय के लिये तैयारी करनी चाहिये। गरीबी, अमीरी तथा स्वस्थता आदि स्थितियो के बीच मे से कोई मनुष्य गुजरे या न भी गुजरे पर मृत्यु की अवस्था मे से तो गुजरना ही पडेगा। काल का ग्रास तो प्रत्येक प्राणी बनेगा ही।

मृत्यु-महोत्सव की तैयारी मे मेरा यही अभिप्राय है कि अत समय मे मनुष्य के परिणाम कैसे रहे ? ज्ञानी और अज्ञानी पुरुष की मृत्यु मे महान् अतर होता है। दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार दोनो के जीवन मे अतर होता है उसी प्रकार दोनो की मृत्यु मे ही बडा अन्तर होता है।

ज्ञानी पुरुष मृत्यु को कोई अद्भुत और खेदजनक स्थिति नही मानता। वह मृत्यु को एक स्वाभाविक और साधारण क्रिया ही समझता है।

> वासासि जीर्णानि यथा विहाय
> नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
> तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
> न्यन्यानि सयाति नवानि देही॥
>
> —गीता अ० २-२२

अर्थात् जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रो को त्याग कर नये वस्त्रो को ग्रहण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरो को त्याग कर दूसरे नये शरीरो को प्राप्त करते हैं ।

ऐसे विचारो के कारण ज्ञानी पुरुष मृत्यु की भयानकता को जीत लेते हैं। मृत्यु का अवसर आने पर उन्हे रच-मात्र भी भय, दुख या सताप नही होता। जिस प्रकार एक राजा अपनी सेना से सुसज्जित होकर दूसरे राजा के आक्रमण करने पर उसका मुकाबिला करता है, ठीक उसी प्रकार शूरवीर ज्ञानी पुरुष काल-रूपी शत्रु के आ जाने पर अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की सेना लेकर निडरता मे उसका सामने करते हैं ।

मृत्यु का अवसर आने पर वे रोते, चीखते चिल्लाते अथवा हाय, हाय नही करते वल्कि मृत्यु का सामना अत्यन्त प्रसन्नता और धैर्यपूर्वक करते है। उनके लिये जीवन और मरण समान है। न उन्हे जीवित रहने का लोभ होता है और न मरने की चिन्ता होती है। जिस प्रकार एक कृपक अपनी खेती के पक जाने पर असीम आनन्द और उल्लास का अनुभव करता है उसी प्रकार एक समभावी साधक अपनी जीवन-रूपी खेती के पक जाने पर हर्ष का अनुभव करता है। ऐसा इसलिये होता है कि उसे परलोक मे सताप प्राप्त करने का अथवा दुखो को भोगने का भय नही होता। क्योकि वह अपना सम्पूर्ण जीवन शुभ विचारो के साथ शुभ क्रिया करते हुए बिताता है।

ज्ञानी पुरुप अत्यन्त शात और स्थिर भाव से मृत्यु का आलिगन करता है। जव उसे ज्ञात होता है कि उसका मृत्युकाल सन्निकट है, तव वह समस्त परिग्रह से सबध विच्छेद कर लेता है, अपने समस्त कुटुम्बियो, मित्रो और हितैषियो के प्रति रहे हुए ममत्व को त्याग देता है, यहाँ तक कि अपने शरीर की भी ममता नही रखता। और इस प्रकार सम्पूर्ण रूप मे विरक्त होकर आत्मा के अजर-अमर स्वरूप का चितन करता है। इन विचारो के कारण वह शाति तथा निराकुलता के साथ काल का स्वागत करता है। इसी को हमारे शास्त्रो मे पडितमरण कहा जाता है।

वधुओ ! धर्मग्रन्थो मे मरण सामान्यतया दो प्रकार का बताया गया गया है— (१) पडित-मरण (२) वाल-मरण।

पडितमरण ज्ञानी पुरुपो का होता है जैसा कि अभी-अभी मैने बताया है। ज्ञानी मनुष्य अपने जीवनकाल मे भी अपनी इन्द्रियो को तथा मन को पूर्णरूप से अपने नियन्त्रण मे रखते है। वे मन के अनुसार नही चलते, वरन्

मन को अपने अनुसार चलाते हैं और इन्द्रियो के दास बनकर उन्हे अपनी दासी बनाकर अकुश मे रखते हैं। भगवान महावीर ने ऐसे ही ज्ञानी और विवेकी पुरुषो के लिये कहा है —

साहरे हत्थ पाये य,
मण पंचिंदियाणि य ।।
पावक च परीणाम,
भासादोसं च तारिस ।।

—सू० प्र० श्रु० ८, गा० १७

अर्थात् ज्ञानी-जन हाथो और पैरो की वृथा हलन-चलन क्रिया को, मन की चपलता को, विषयो की ओर जाती हुई पचेन्द्रियो को, पापोत्पादक विचारो को और भाषा सबधी समस्त दोषो को रोक लेते हैं।

ऐसे विवेकी पुरुष ही अपने मन वचन तथा काय के अनिष्ट व्यापारो को रोक कर आस्रव रूपी कर्मस्रोत को रोक सकते है और जीवन के अत मे अपनी मृत्यु के काल को सुखपूर्ण और उल्लास से भरे हुए महोत्सव मे बदल सकते हैं। उनके लिये मृत्यु का समय नव-जीवन के प्रारम्भ का शुभ काल हो जाता है। उन्हे मरने से दुख नही होता वरन् सुन्दर और शुभ नवीन जीवन प्राप्त करने की उमग होती है।

इसके विपरीत अज्ञानियो का 'बाल-मरण' होता है। बाल-मरण का अर्थ है—विवेकहीन होकर हाय-हाय करते हुए, खेद, पश्चात्ताप, दुख, शोक और विकलता से आर्त-ध्यान करते हुए मृत्यु को प्राप्त होना।

अज्ञानी जीव विषय-भोगो को उपादेय मानता है और किसी कारण से चाहे उन्हे भोग न सके, फिर भी भोगने की अभिलाषा सदा ही रखता है। भोगो के प्रति उसकी आसक्ति मृत्यु पर्यंत दूर नही होती। उसकी दृष्टि भूत और भविष्य से हटकर केवल वर्तमान मे ही रहती है। भविष्य मे कुछ भी क्यो न हो, वह तो वर्तमान के लाभ को ही अपनी दृष्टि मे रखता है। भविष्य की कुछ भी चिन्ता उसे नही होती, सिर्फ वर्तमान के विषयभोगो से ही वह सतुष्ट होने का प्रयत्न करता है।

परिणाम यह होता है कि तीव्र लालसा के कारण वर्तमान मे भी उसे सतुष्टि प्राप्त नही होती और मृत्यु के समय भी विषय भोगो से अतृप्त रहकर वह अत्यन्त ही दुख और उनके वियोग से महान् खेद का अनुभव करता है।

पत्नी, पुत्र, माता-पिता तथा अन्य समस्त कुटुम्बियो को अपना ही मानता हुआ मृत्यु के समय उनके बिछुड जाने की कल्पना करके महान् शोकमय अवस्था को प्राप्त होता है। वह भूल जाता है कि उसके सारे सम्बन्धी स्वार्थ के कारण ही उसे अपना मानते थे। अर्थोपार्जन करके उनका पालन-पोषण करने मे समर्थ होने से ही वे सब उसे 'मेरा' 'मेरा' कहते थे। अगर वह उनकी सुख-सुविधाएँ जुटाने मे असमर्थ रहता तो वे कभी के उससे नाता तोड लेते। कहा भी है —

> **यावद्वित्तोपार्जनशक्त-स्तावन्निजपरिवारे रक्त ।**
> **पश्चाज्जर्जरभूते देहे, वार्ता पृच्छति कोपि न गेहे ।।**
>
> — शकराचार्य

—जब तक मनुष्य धन कमाने मे समर्थ है तभी तक उसके कुटुम्बी-जन उससे प्रेम करते हैं। जब शरीर जर्जर हो जाता है तो कोई भी घर मे उसका हाल नही पूछता।

जब तक प्राण-वायु शरीर मे रहती है और मनुष्य स्वजनो-परिजनो की स्वार्थपूर्ति करता रहता है तभी तक वे सब उसे अपना मानते है और उसके लिये प्राण दे देने का भी दावा करते हैं, किन्तु समय आने पर एक भी व्यक्ति, यहाँ तक कि पत्नी भी, पति के लिये मरने को तैयार नही होती। यह आप एक छोटी-सी कथा से समझ लेंगे —

एक युवक नित्य ही किसी महात्मा के पास उपदेश सुनने जाया करता था। महात्माजी ने उसे समझाया—सिर्फ परमात्मा ही अपना है। उसके अलावा इस ससार मे कोई किसी का नही है। इसलिये माता-पिता की सेवा और पुत्र पत्नी आदि का पालन-पोषण मनुष्य को सिर्फ अपना कर्तव्य समझ कर करना चाहिये। किन्तु अत्यन्त मोहवश उनमे आसक्ति रखना उचित नही।

नवयुवक ने कहा—परन्तु गुरुदेव! मेरे माता-पिता मुझ से इतना स्नेह रखते हैं कि एक दिन भी मैं घर न जाऊँ तो उनकी भूख-प्यास गायब हो जाती है। मेरी पत्नी तो मेरे बगैर जिन्दा ही नही रह सकती। तब महात्माजी ने उसे उन सबकी परीक्षा करने की युक्ति बतलाई।

युवक अपने घर जाकर पलग पर चुपचाप लेट गया और प्राणवायु मस्तिष्क मे चढ़ाकर निश्चेष्ट हो गया। घरवालो ने जब आकर उसे देखा तो

समझा कि उसके प्राण-पखेरू उड गए है। सब बिलख-बिलख कर रोने लगे, पास-पड़ोस के अनेक लोग वहाँ इकट्ठे हो गए।

उसी समय महात्माजी भी वहाँ आ पहुँचे उन्होने कहा—मैं इसे जिन्दा कर सकता हूँ। एक बर्तन मे थोडा सा जल मगवाओ। घर के समस्त सदस्य महात्माजी के चरणो पर गिर पड और उन्हे भगवान् समझकर कोटिश धन्यवाद देने लगे।

एक ग्लास मे पानी लाया गया। महात्माजी ने उसे सामने रखकर कोई मत्र पढा। पानी मे फूक मारी और कहा—'अब इस पानी को कोई भी व्यक्ति पी जाए। पानी पीते ही पीने वाला मर जाएगा किन्तु यह युवक जीवित हो जाएगा।

आसपास खडे हुए सभी व्यक्ति यह सुनकर चौक पडे और एक दूसरे का मुह देखने लगे। मरे कौन ? पडौसी और मित्रगण तो धीरे धीरे खिसक गए। माता-पिता, भाई, पुत्र और पत्नी भी मौन होकर खडे रह गए। किसी ने भी मत्रित जल पीने मे उत्साह नही दिखाया। ऐसा लग रहा था मानो सभी पत्थर की बनी हुई मूक प्रतिमाएँ हो।

कुछ समय पश्चात् महात्माजी ने ही मौन भग किया। बोले—कोई भी यह जल पीने को तैयार नही है ? तो क्या मैं ही इसे पी लूं ?

सुनते ही घरवालो की जान मे जान आई और सब कह उठे—महात्माजी! आप धन्य है। आप तो मुक्तात्मा है। आप ही यह कृपा करे ! सतो का तो जन्म ही परोपकार के लिये होता है। आपके लिये तो जीवन और मरण दोनो ही समान हैं। धन्य है आप !

युवक सब कुछ सुन रहा था और समझ रहा था। उसने प्राणायाम समाप्त कर दिया और धीरे धीरे उठकर बैठ गया। हाथ जोडकर कहने लगा—भगवन् ! आपके लिये यह जल पीना जरूरी नही है। आपने बिना ही जल पिये मुझे जीवन-दान दिया है। सचमुच का 'प्रबुद्ध जीवन'।

बधुओ ! यह कथानक बताता है कि सासारिक सबध स्वार्थमूलक हैं। फिर अज्ञानी जीव अपने कुटुम्बियो को अपना मानता है और जीवन भर उनके लिये परिश्रम करता हुआ अत समय मे भी उनके वियोग के दु ख के कारण आकुल-व्याकुल होता हुआ बाल-मरण को प्राप्त होता है। समस्त उपार्जन की हुई भौतिक सम्पत्ति को अपनी ही मानकर मृत्यु के समय उसे त्यागने मे महान कष्ट का अनुभव करता है।

ऐसे अज्ञानी व्यक्तियो के लिये मृत्यु का समय शाति और सुख का प्रदाता नही होता वरन असीम दुख का कारण होता है और मृत्यु के बाद भी जन्म-जन्मातर तक इस ससार-सागर मे छटपटाते रहने का कारण बनता है।

मृत्यु तो ज्ञानी और अज्ञानी दोनो की ही होती है। दोनो की आत्माएँ इस नश्वर शरीर को छोडकर जाती हैं। किन्तु अज्ञानी व्यक्ति के लिये अत समय घोर कष्ट का कारण बनता है और ज्ञानी व्यक्ति के लिये एक सुखपूर्ण महोत्सव के रूप मे बदल जाता है। क्योकि वह भली-भाति जानता है —

जो उगै सो अस्थमै, फूलै सो कुम्हिलाय।
जो चुनिये सो ढहि परै, जनमे सो मरि जाय॥

अर्थात् जो उगता है वह अस्त होता है, फूलता है वह कुम्हलाता है, जो चुना जाता है वह कालान्तर मे अवश्य ढहता है और जो जन्म लेता है वह मरण को प्राप्त होता है।

ऐसी विचारधारा जिनकी होती है वे ही अपने मृत्यु-काल को आनन्द-मय बना सकते है। किन्तु यहा पर ध्यान रखने की आवश्यकता इस बात की है कि मृत्यु-काल के समय समाधि रहे अर्थात् समभाव रहे। इसके लिये मनुष्य को अपने जीवन-काल मे ही तैयारी करना चाहिये।

ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषो की मृत्यु मे उतना ही भेद होता है जितना उनके जीवन मे होता है। ज्ञानी पुरुष जीवन की कला को जानता है। अपने जीवन मे ही सम्यक्त्व की प्राप्ति कर लेने मे उसे सहज ही ऐसा विवेक हो जाता है, जिसके कारण वह विषय भोगो से विरक्त बना रहता है। यद्यपि परिस्थितियो के वशीभूत होने के कारण वह उन्हे त्याग नही पाता किन्तु उन्हे भोगते हुए भी वह अन्त करण से उनमें लिप्त नही रहता। विषय-कषाय और भोग रूपी शत्रु उसके आत्म गुणो को चुरा न लें, इसके प्रति वह सदा सजग और सावधान रहता है। प्रमाद के वश होकर वह मोहनिद्रा मे नही सोता और इसके परिणाम स्वरूप आस्रव को रोकता है। ऐसे महापुरुष की अन्त-रात्मा सतत चेतावनी देती रहती है —

ओ मुक्ति मार्ग के पथिक ! न गाफिल होना,
मजिल तक पहुचे बिना न पथ मे सोना।
चेतन-गुण चोरेगी प्रमाद की सेना,
सोने का भारी मूल्य पड़ेगा देना।

दस्यु प्रमाद ने गहरी ताक लगाई,
कर आस्रव को निर्मूल मुक्ति अनुयायी।

—शोभाचन्द्र 'भारिल्ल'

अन्तरात्मा की इस पुकार को सुनकर सजग प्रहरी की भाति आत्म-गुणो की रक्षा करने वाले साधक ही मुक्ति के अनुयायी बन सकते है और अपने जीवनकाल मे ही इन्द्रियो पर तथा मन पर दृढतापूर्वक शासन करने का अभ्यास रखते हुए मृत्यु के अवसर पर भी दृढतापूर्वक सम-भाव या समाधि भाव धारण करने मे समर्थ बनते हैं।

इसके विपरीत अज्ञानी पुरुष न तो अपने जीवन को ही दोष-रहित और कलापूर्ण बना सकते हैं और न अपनी मृत्यु के समय को ही। इसलिये उनकी मृत्यु नवीन जन्म का कारण बनती है और जन्म मरण का चक्र अनन्त काल तक चलता रहता है।

ज्ञानी और अज्ञानी पुरुष की बाहरी चेष्टाएँ तथा क्रियाएँ एक सरीखी दिखाई देती हैं। किन्तु उनकी भावनाओ मे महान अन्तर होता है। ज्ञानी पुरुष यह मानता है कि शरीर पुद्गलमय और आत्मा चेतनमय है। शरीर रूपी है, आत्मा अरूपी है। शरीर नाशवान है, आत्मा अविनश्वर है। आत्मा शरीर नही है और शरीर आत्मा नही है। तो जब यह शरीर भी मेरा नही है तो सगे-सबधी और स्वजन परिजन मेरे कैसे होगे। मृत्युकाल आते ही आत्मा अकेली ही प्रयाण करेगी। कोई भी उसका साथ नही देगा। साथ जाएँगे सिर्फ शुभ और अशुभ कर्म जिन्हे आत्मा को भोगना पडेगा। भगवान महावीर के भी वचन हैं —

अब्भागमियम्मि वा दुहे,
अहवा उक्कमिए भवन्तिए।
एगस्स गई य आगई,
विदुमन्ता सरण न मन्नई।

—सूत्रकृताग

अर्थात् दुःख आने पर अकेले को ही भोगना पडता है, आयुष्य क्षीण होने से भवान्तर मे अकेला ही आना-जाना होता है। इसलिये विवेकी पुरुष स्वजन-सबधी वर्ग को शरण-रूप नही मानता।

कहने का तात्पर्य यही है कि जो सम्यक् दृष्टि साधक अपने जीवन को

मोह-ममता, ईर्ष्या-द्वेष, तथा विषय-कषायो से रहितवना लेते हैं उन्हे मृत्यु से रच मात्र भी भय नही लगता। उनके लिये मृत्यु अत्यन्त आनददायक और शुभ की प्राप्ति का कारण बनती है। वे मृत्यु को मुक्ति मानकर अत समय मे असीम उल्लास का अनुभव करते हैं। एक पाश्चात्य विज्ञान् ने भी यही कहा है —

"Death is the golden key that opens the palace of eternity"

—मिल्टन

—मृत्यु वह सुनहरी चावी है जो अमरता के महल को खोल देती है।

विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये हैं। कहा है—"मृत्यु तो प्रभु का आमत्रण है। जब वह आए तो द्वार खोलकर उसका स्वागत करो और चरणो मे हृदय-धन सौंपकर अभिवादन करो।"

यह नश्वर शरीर तो प्रत्येक प्राणी को त्यागना ही पडता है। जीव जन्मा है तो मरेगा भी अवश्य। मरण इस शरीर की अनिवार्य तथा अन्तिम क्रिया है। आयुष्य का पता नही कि वह कब समाप्त हो जाए। कच्ची मिट्टी का पात्र तनिक से आघात से ही जिस प्रकार टूट जाता है उसी प्रकार यह जीवन भी स्वल्प निमित्त मात्र से ही समाप्त हो जाता है।

ऐसी स्थिति मे, जब कि मृत्यु का सामना करना प्रत्येक प्राणी के लिये अनिवार्य है, मनुष्य को सदा उसका स्वागत करने के लिये तैयार रहना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह अपने अत समय को सुधारने के लिये प्रतिक्षण सचेत रहे।

उसे सासारिक पदार्थों तथा इस एक जन्म के सगे-सबधियो मे प्रगाढ आसक्ति न रखते हुए अपने मन को शुद्ध और पवित्र बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। सम्यक् ज्ञानी पुरुष की विचारधारा ऐसी ही होती है जिसके कारण वह सदा सतुष्ट और निर्भय बना रहता है। वह यही विचार करता है कि मेरे लिये तो प्रत्येक स्थिति आनन्दप्रद है। अगर यह शरीर रहे तो यही शुद्धोपयोग की आराधना करूँ और न रहे तो परलोक मे जाकर शुद्धोपयोग की आराधना करूँ।

ऐसे महापुरुष प्रतिक्षण आनन्दमय रहते हैं। किसी भी प्रकार की आकुलता उनके हृदय में प्रवेश नही कर पाती। उन्हें प्रत्येक पल यह भान रहता है कि ससार अनित्य और निस्सार है। अगर इसमे सार होता तो

ससार के महान पुरुष इसका त्याग क्यो करते ? अनेकानेक चक्रवर्ती और तीर्थंकर इसे क्यो छोडते ? स्वय इस असार ससार को त्यागते हुए उन्होने प्राणीमात्र को यही उपदेश दिया है कि – अनेकानेक जन्मो के पुण्य के उदय से यह मानव शरीर प्राप्त होता है और मानव शरीर प्राप्त होने पर भी सम्यक्त्व रूपी चिंतामणि-रत्न प्राप्त करना तो अत्यत ही दुर्लभ है। अत अगर मानवशरीर प्राप्त किया है तो उसे व्यर्थ खोना महान भूल है। कहते है—

अतिशय पुण्य योग से पांचों अगर इन्द्रिया पाई ,
तो मन के बिन वह भी कहिये अधिक काम क्या आई ?
चिन्तामणि के सदृश परम सम्यक्त्व-रत्न सुखदायी, ?
दुर्लभ है दुर्लभतर है रे ! समझ सयाने भाई ।।

तात्पर्य यही है कि अगर यह मानव तन किसी प्रकार से प्राप्त किया है तो परम दुर्लभ चिन्तामणि के समान सम्यक्त्व को प्राप्त करके मनुष्य कुछ ऐसी करनी कर ले ताकि उसे पुन पुन जन्म-मरण के चक्र मे पिसना न पडे। मनुष्यजन्म पाने का लाभ तभी है जब वह शाश्वत एव परमानदपूर्ण निर्वाण-पद को प्राप्त करे।

अन्यथा यह जीवन तो क्षणिक है, किसी भी दिन समाप्त हो जाएगा। कहा भी है —

' आयुष्य जललोलबिन्दुचपलम् ।"

—प्राणियो की आयु जल मे उत्पन्न होने वाले क्षण नश्वर परपोटे के समान चपल है जो शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाली है।

इसलिये बहुत सावधानी पूर्वक मन पर सयम रखते हुए मानव-मात्र को अपना जीवन अनासक्त और निर्वैर बनाना चाहिये। अगर मनुष्य अपने मन पर सयम नही रख सकेगा तो वह भले ही गृहस्थावस्था मे रहे या साधु बन जाए, घर मे रहे या वन मे जाकर तपस्या करने लगे, कही भी जीवन की सार्थकता प्राप्त नही करेगा। भावना का महत्व इतना अधिक है कि उसके अनुसार क्रिया न करने पर भी मनुष्य अनेकानेक कर्मों के बन्धनो से बच सकता है। कहा गया है —

यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी ।

जिसकी जैसी भावना होती है, उसको वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है।

उच्च भावनाओ के होने से मनुष्य घर मे रहकर भी आत्मा का कल्याण कर सकता है और भावना की हीनता होने पर और मानसिक

अपवित्रता रहने पर चाहे वह कही भी जाकर रहे, सिद्धि प्राप्त नही कर सकता। किसी कवि ने अत्यन्त सुन्दर और सादे शब्दो मे कहा है :—

माता के समान पर नारी को विचार नहीं,
रहे सदा पर-धन लेन ही के ध्यानन में।
गुरु जन पूजे नहीं, भावना न शुद्ध कीन्ही,
गीधे रहे नाना विध विषय के विधानन मे।
आयुस गंवाई सबै स्वारथ सवारन मे,
खोजो परमारथ न वेदन पुरानन में।
जिन सों बनीन कछु रहत मकानन मे,
तिन सो बनेगी कब जाए जब कानन मे।

कितने सुन्दर भाव हैं! जो व्यक्ति मकान मे रहकर सयम नही रख सका वह कानन मे जाकर ही क्या कर लेगा! मन तो उसका साथ ही रहेगा न! अगर गृहस्थावस्था मे मन पर नियन्त्रण नही हो सका तो जगल में चले जाने मात्र से क्या होगा?

बन्धुओ! मेरे कथन का साराश यही है कि हमे अपने जीवन के प्रत्येक क्षण मे अपने मन को नियन्त्रण मे रखते हुए उसे शुद्ध और विरक्त बनाना चाहिये ताकि अन्त समय मे वह विचलित न हो। कहते है – अन्त भला सो सब भला। अर्थात् अन्त समय मे अगर परिणाम निराकुल और शोक रहित बने रह सकते हैं तो निश्चय ही हम अपने भविष्य को मगलमय बना सकते हैं।

महान से महान पापी भी मृत्युकाल मे शुभ परिणामो के प्रभाव से मानव-भव का लाभ प्राप्त कर लेते हैं। गोशालक जीवन-भर भगवान महावीर का कट्टर वैरी बना रहा, उनकी निन्दा करता रहा और उनके अनिष्ट की कामना और प्रयत्न मे रत रहा किन्तु मृत्युकाल के उपस्थित होने पर उसे घोर पश्चात्ताप हुआ और पश्चात्तापमय भावनाओ के कारण वह देवलोक का अधिकारी बना।

किन्तु इसके विपरीत महामुनि स्कदक ने जीवन-पर्यन्त परम शुद्ध और निष्कलक साधुधर्म का पालन किया। किन्तु अन्त मे उन्हें अपने बहनोई राजा कुम्भकर के द्वारा पाच सौ शिष्यो सहित धानी मे पेल दिये जाने की आज्ञा हुई। चार सौ निन्यानवे शिष्यो को मुनि के देखते-देखते कोल्हू मे पेल दिया गया। अन्त मे एक अत्यन्त सुकुमार बाल-शिष्य को पेला गया और उसके

प्रति मोह भाव जागृत हो जाने के कारण स्कदक मुनि का मन विचलित हो गया । उनके भावो मे समाधि न रह सकी । उसी अवस्था मे वे भी कोल्हू मे पेल दिये गए । परिणाम यह हुआ कि उनकी जीवन-भर की दृढ साधना दूषित हो गई और जब कि उनके पाच सौ शिष्य मोक्ष को प्राप्त हुए, वे स्वय मोक्ष-गति प्राप्त नही कर सके । इन दृष्टान्तो से साबित हो जाता है कि .—

"अन्ते मति सा गति. ।"

अर्थात्-अन्त समय मे जैसी बुद्धि हुआ करती है वैसी ही प्राय. परलोक मे गति मिलती है ।

यद्यपि मनुष्य को अपने जीवन काल मे मन को दृढ बनाकर मृत्यु-काल के समय दृढता रहे ऐसा प्रयत्न करना चाहिये । फिर भी अगर परिस्थिति-वश और मन की कमजोरी के कारण ऐसा न हो सके तो अन्त समय मे तो अपने परिणामो को पवित्र रखना ही चाहिये । तभी मनुष्य को 'पडित-मरण' प्राप्त हो सकता है ।

जीवन के अन्तिम क्षण जिस समय सन्निकट हो उस समय मोह-ममता का सर्वदा परित्याग करना आवश्यक है । प्राय· देखा जाता है कि मनुष्य के जीवनकाल मे जो स्वजन-परिजन और मित्र तथा हितैषी गण विशेष सपर्क मे नही आते वे ही मृत्यु के समय अत्यधिक प्रेम का प्रदर्शन करते हुए मृत्यु के पथिक को कमजोर बना देते हैं । पिता, माता, पुत्र और पत्नी आदि सभी आंखो मे आसू भरकर अपनी व्यथा को अनेक गुनी अधिक बताते हैं ।

किन्तु ऐसी स्थिति में भी कल्याण के आकाक्षी मानव को अपना हृदय 'स्वस्थ' रखकर आत्मा की सद्गति की ही चिन्ता करनी चाहिये । आस-पास मे खडे हुए सगे सबधियो से अपनी आत्मा को विलग मानकर शात व समाधि भाव से मृत्यु की प्रतीक्षा करनी चाहिये । औ ऐरसी मृत्यु निश्चय रूप से सत्पुरुषो को आनन्ददायक ही प्रतीत होगी । ईसा मसीह ने मरते समय कहा था —

"ऐसा लगता है कि जैसे मेरे एक-एक रोम मे फूल खिल रहे हो ।"

इससे मालूम होता है कि जिसके परिणाम आसक्ति और शोक से रहित होते हैं उसे मृत्युकाल मे कोई कष्ट अनुभव नही होता । ऐसे व्यक्तियो की मृत्यु दुख-पूर्ण नही वरन शक्तिपूर्ण होती है । उनके लिये मृत्यु का अवसर मृत्यु-महोत्सव के रूप मे परिणत हो जाता है । उनकी अन्तरात्मा

यही कहती है —

जिस मरने से जग डरे मेरे मन आनन्द ।
मरने ही ते पाइये पूरन परमानन्द ।।

तो बंधुओ ! अगर वास्तव मे ही अपने अन्त-काल को एक महोत्सव के रूप मे सम्पन्न करना है तो हमको प्रयत्न करना होगा कि हमारी आत्मा जीवनकाल मे प्रमाद का त्याग करके सदा जागरूक रहे, तथा समस्त विषय भोगो के भावो, सज्ञाओ और वृत्तियो से हटकर इन्द्रियो तथा मन को बाहर से हटाकर अन्दर ले जाते हुए अन्तर्मन मे ज्ञान का दीपक जलाये । हमारी आत्मा निरतर यह विचार करे कि 'मैं' अजर हू, अमर हूँ, तेजस् और ज्योतिष्मान हूँ ।' तभी हमे अन्त समय मे पण्डितमरण और दूसरे शब्दो मे समाधि-मरण प्राप्त हो सकेगा । हमारी आत्मा परमानन्द को पा सकेगी और हमारा मृत्युकाल शाश्वत सुख का प्रदाता बनकर 'मृत्यु-महोत्सव' बन सकेगा ।

हारिये न हिम्मत बिसारिये न राम

यह एक अत्यन्त सरल और प्रसिद्ध कहावत है। किन्तु इसके द्वारा मानव-मन को बडी मार्मिक चेतावनी दी गई है। इस उक्ति मे कहा गया है कि 'हे मानव! जीवन मे तू सिर्फ दो बातो का ध्यान रख। प्रथम तो यह कि कभी भी हिम्मत मत हार, हताश न हो, निराशा के पर्वतो को लाघता चल, पुरुषार्थ और पराक्रम का परित्याग न कर। दूसरे 'राम' को मत भूल। अर्थात् प्रतिक्षण भगवान को याद रख ताकि उसके भय से पाप-कर्मो से बचा रहे।"

कोई भी साधारण मनुष्य अथवा साधना के पथ पर चलने वाला साधक भगवान का स्मरण रखता हुआ साहसपूर्वक अपने मार्ग पर बढने का प्रयत्न करता रहे तो कोई भी अवरोध उसे गतिशील होने से नही रोक सकेगा। विवेकवान् और साहसी पुरुषो के मार्ग मे जो अवरोध आते है वे उसकी गति को रोकने के लिये नही वरन् उसमे अधिक वेग देने वाले बन जाते हैं। मानव-जीवन की सफलता इस पर निर्भर है कि मनुष्य विघ्न-बाधाओ से घबरा कर अपने लक्ष्य को न भूले, अपनी मजिल को न छोडे।

कोई भी विघ्न गतिशून्य व्यक्तियो के मार्ग मे नही आता। वह तो गति-शील व्यक्ति के पथ मे ही आता है। तब फिर क्यो न उस पर विजय प्राप्त की जाए? जो व्यक्ति विघ्न-बाधाओ के कारण हिम्मत हार जाता है उसका आत्म-बल क्षीण हो जाता है। और वह कभी कोई महान् कार्य नही कर सकता। इसके विपरीत महान् व्यक्ति, जब किसी भी कार्य को हाथ मे ले लेता है तो चाहे कितनी भी बाधाएँ उसके सामने आएँ, वह अपने कार्य को छोडता नही। भर्तृहरि ने बडे सुन्दर ढग से बताया है'—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचै,
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्या ॥
विघ्नै पुन पुनरपि प्रतिहन्यमाना,
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥

अर्थात्-निकृष्ट व्यक्ति बाधाओ के डर से काम शुरू ही नही करते । मध्यम प्रकृति वाले कार्य प्रारम्भ तो कर देते हैं किन्तु विघ्न उपस्थित होते ही उसे छोड देते हैं । इसके विपरीत उत्तम व्यक्ति बार-बार विघ्नो के आने पर भी काम को एक बार शुरू कर देने के बाद फिर अधूरा नही छोडते ।

विपत्तियाँ और बाधाएँ मनुष्य को शिक्षा देने वाली अत्यन्त श्रेष्ठ शालाएँ हैं । उनके बिना मनुष्य की कर्तव्यशीलता की परीक्षा नही होती । जिस प्रकार रत्न बिना रगड खाये नही चमकता उसी प्रकार मनुष्य बिना परीक्षा के खरा नही साबित होता जिन्हे हम व्यथाएँ और विपदाएँ कहते है वे यथार्थ मे हमारी शत्रु नही वरन् मित्र होती हैं । किसी ने कहा भी है —

God brings men into deep water, not to drown them but to cleanse them "

यानी ईश्वर मनुष्य को गहरे पानी मे (विपत्तियों मे) डूबाने के लिये नही वरन् निर्मल बनाने के लिये ले जाता है ।

जिस मनुष्य के हृदय में विपत्तियो के समय मे भी सद्ज्ञान उत्पन्न न हो उस एक ऐसा सूखा वृक्ष समझना चाहिये जो पानी पाकर भी कभी पनपता नही वरन् सड जाता है । इसलिये महान् पुरुष तो आपत्तियो को चुनौती देते हैं, उनसे डरते नही । वे यह मानते हैं कि आपत्तियो के समय ही हमे भगवान् का साक्षात्कार हो सकता है । पाडवो की माता कुन्ती ने कहा था --

विपद सन्तु न शाश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो ।
भवतो दर्शन यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ।।

हे जगद्गुरु ! हमारे जीवन मे पद-पद पर विपत्तिया आती रहे, क्योकि विपत्तियो मे ही निश्चित रूप से आप के दर्शन हुआ करते है और आप के दर्शन हो जाने पर फिर जन्म-मृत्यु के चक्कर मे नही आना पडता ।

कहने का तात्पर्य यही है कि मानव के सभी गुणो मे साहस अथवा हिम्मत एक श्रेष्ठ गुण है । साहस अन्य अनेक गुणो को उत्पन्न करता है । बिना निराश हुए अपने लक्ष्य की ओर बढते जाना ही मनुष्य की सबसे बडी परीक्षा है ।

निराशा निर्बलता का चिह्न है । इसके कारण मनुष्य को चारो ओर अधकार ही अधकार दिखाई देता है । इसलिये बिना निराश हुए अनवरत

अपने कार्य-क्षेत्र मे वढते जाना ही पुरुषार्थी व्यक्ति के लिये उपयुक्त है। मनुष्य को अपने कार्य रूपी समुद्र का मन्थन अवश्य करना चाहिये। उस मन्थन से अमृत निकलेगा या विष, इसकी परवाह किंचित् मात्र भी नही होनी चाहिये। देवताओ की तरह अमृत पीकर महान् वनने वालो की अपेक्षा तो गरल (विष) पीकर शिवजी की तरह महान् वनना अधिक अच्छा है।

सच्चा पुरुष वही है जो दु खो के दुर्लंघ्य पर्वत सिर पर टूट पडने पर भी अपने चरण कर्त्तव्य-पथ मे मजवूती से जमाए रहता है। ऐसे पुरुष अपने स्थान से एक सूत्रमात्र भी विचलित नही होते। पूर्ण साहस और विश्वास के साथ चट्टान की तरह दृढ रहकर सकटो का सामना करते हैं। विश्वास एक ऐसा सम्वल है जिसे अपने साथ लेकर चलने से मार्ग की समस्त वाधाएँ स्वय ही दूर हो जाती है। साहसी व्यक्ति का मार्ग गरीवी, भूख अथवा उपहास कोई भी नही रोक सकता। ससार मे उसी व्यक्ति का स्थान वनता हैं जो अपने विश्वास को सदैव जीवित रखता है। जिसकी हिम्मत और विश्वास मर जाते हं वह श्वास लेता हुआ भी निर्जीव ही है।

अनेक व्यक्ति वचपन का समय तो अज्ञानता के कारण व्यर्थ खो देते हैं और जवानी का समय विषय-भोगो मे व्यतीत करते है किन्तु उसके पश्चात् जव वृद्धावस्था आ जाती है तव उन्हे परलोक का ध्यान आता है। उस समय वे विचार करते हं कि आत्मा के साथ जाने वाले पुण्य और पाप मे से हमने किसकी गठरी वाँधी हैं? पापो की वधी हुई भारी गठरी तो उन्हे दिखाई दे जाती है किन्तु पुण्य का नाम-निशान भी कही दिखाई नही देता।

ऐसी स्थिति मे मानव सिर पीटता है, रोता है और पश्चात्तप करता हुआ कहता है :—

वालपने मे ज्ञान न लह्यो,
तरुण समय तरुणीरत रह्यो।
अर्धमृतक सम वूढापनो,
कैसे रूप लखें आपनो ॥

अर्थात्-वचपन मे तो मैंने ज्ञान प्राप्त नही किया। पुण्य और पाप की परिभाषा नही जानी और आत्मा तथा परमात्मा के भेद को नहीं समझा। न ही आत्मा के स्वरूप को तथा उसकी अनन्त शक्ति के विषय मे विचार किया। और जव युवावस्था आई तो काम-भोगो के प्रति इतना आसक्त रहा कि धर्म-कर्म का नाम भी सुनने की इच्छा नही हुई। किन्तु अव जव वृद्धावस्था आ गई है, सभी अग शिथिल हो गए हैं, कुछ भी कार्य करने की शक्ति

नही रही; और इसके कारण जब स्वजनो तथा परिजनो ने भी उपेक्षा का वर्ताव करते हुए किनारा करना शुरू कर दिया है, तव इस अवस्था मे मैं अपनी आत्मा के स्वरूप को कैसे समझू ? इसकी अनन्त शक्ति का उपयोग कैसे करूँ ?

ऐसे पुरुषो को भी निराश होकर ही नही रह जाना चाहिए। किन्तु विचार करना चाहिये कि शक्ति शरीर की अवश्य ही क्षीण होती है किन्तु आत्मा की शक्ति कभी क्षीण नही होती। वृद्धावस्था आ जाने पर भी अगर मन मे साहस वना रहता है तो मनुष्य अपना उतना ही कल्याण कर सकता है जितना कि एक युवा और शक्तिशाली पुरुष। शास्त्र मे कहा है—

पच्छा वि ते पयाया खिप्प गच्छति अमरभवणाइ

अर्थात्—वृद्धावस्था मे धर्म की ओर उन्मुख होने वाले भी दिव्यगति प्राप्त कर लेते है।

शरीर मे वृद्धत्व आ जाने पर भी मन मे वृद्धत्व नही आना चाहिये। वास्तविक वृद्धावस्था तभी आती है जबकि मन वृद्ध हो जाता है, मन का जोश व साहस खत्म हो जाता है। मन का साहस खत्म हो जाने पर तो एक युवा भी वृद्ध के समान ही होता है। और मन मे साहस रहने पर वृद्ध भी युवक। जीवन की सबसे वडी हार तव होती है जब मनुष्य हिम्मत हार जाता है।

आत्म कल्याण करने के लिये और मोक्ष की प्राप्ति के लिये आत्मा को कभी वृद्ध नही मानना चाहिये, क्योंकि आत्मा की शक्ति तो कदापि कम नही होती। साधक अपनी साधना शरीर के वल पर नही वरन् आत्मा के वल पर कर सकता है। मन की शक्ति वलवान होने पर तो मनुष्य आधे क्षण मे भी मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। कहा भी है —

"य सप्तमीं क्षणार्धेन नयेद्वा मोक्षमेव च।"

अर्थात् – मनोवल इतना प्रवल होता है कि उसके प्रभाव से आधे क्षण मे सातवें नरक का वध पड सकता है और आधे क्षण मे समस्त कर्मों का नाश करके मोक्ष की प्राप्ति भी की जा सकती है।

युवावस्था का वास्तविक अर्थ है—साहस, निर्भयता और कुछ नया कर्म करते रहने की इच्छा। यह इच्छा एक तरुण की अपेक्षा पचास-साठ वर्ष की वृद्धावस्था मे भी अधिक हो सकती है। मुक्ति की कामना एक जवान व्यक्ति

की अपेक्षा वृद्ध के हृदय मे अधिक बलवती हो सकती है और उस दृढ इच्छा शक्ति के कारण वह अपनी आत्मा को अल्प समय मे भी साधना के उच्च शिखर पर पहुँचाकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

कहने का तात्पर्य यही है कि शरीर का बुढापा उतना भयकर नही होता, जितना भयकर मन का बुढापा। इसलिये मन को कभी भी बूढा न मानकर प्रत्येक मानव को साहसपूर्वक किसी भी स्थिति मे, और किसी भी उम्र मे हिम्मत न हारते हुए आत्मा की शक्ति के द्वारा भवभ्रमण से मुक्ति पाने का प्रयत्न करना चाहिये। इस बात को कदापि नही भूलना चाहिये कि हमारा मन जितना साहसी है, हम उतने ही जवान हैं और उतने ही शक्तिशाली हैं।

आत्मा जड वस्तुओ से भिन्न एक चेतन तत्व है। भारत की समस्त धर्मपरम्पराओं ने आत्मा की असीम सत्ता को माना है। चार्वाक-दर्शन यद्यपि आत्मा को शरीर से भिन्न नही मानता क्योकि वह जडवादी है फिर भी वह चैतन्य की सत्ता को स्वीकार करता है। विवाद जहाँ होता है, वह आत्मा की सत्ता के विषय मे नही होता वरन् होता है आत्मा के स्वरूप के विषय मे। और स्वरूप मे भिन्न मत होने पर भी यह निश्चय है कि आत्मा है अन्यथा आत्मस्वरूप के विषय मे विभिन्न मन्तव्यो की स्थापना कौन करता? वह आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सभी से परे है। आत्मा स्वभाव से विशुद्ध और ज्ञानरूप है, उसमे अनन्त शक्ति है। विषय के विकारो मे वह शक्ति कुठित हो जाती है किन्तु साधना की शक्ति से उसे जगाया जा सकता है। और उस अनन्त शक्ति को जगाने के लिये, आत्मा का विकास करने के लिये मनुष्य मे दृढ इच्छाशक्ति और कुछ गुण होने आवश्यक है। प्रसिद्ध दार्शनिक "टेनीसन" ने कहा है :—

"Self-reverence, Self-knowledge Self-control, these are alone lead life to Soverign power"

अर्थात्-आत्म-विश्वास, आत्म-ज्ञान और आत्म सयम केवल यही तीन जिन्हे हम अपने शब्दो मे 'रत्नत्रय' कहते हैं, जीवन को परम शक्ति-सम्पन्न बना देते है।

जो व्यक्ति आत्म कल्याण का इच्छुक है उसमे सर्व प्रथम आत्म-विश्वास होना चाहिये। उसके लिये आवश्यक है कि वह आत्मा की शाश्वत सत्ता मे विश्वास करे। आत्म-विश्वास की कमी के कारण मनुष्य महान कार्य

को सम्पन्न नही कर पाता। और अनन्त शक्ति सम्पन्न होने पर भी अपने आपको तुच्छ, दीन और हीन मानता है। आत्म-विश्वास की यह कमी ही सभी असफलताओ का मूल कारण बनती है। जिन्हे अपनी आत्म-शक्ति पर विश्वास नही होता वे शारीरिक तौर पर कितने ही शक्तिशाली क्यो न हो, फिर भी निर्बल ही साबित होते है और कदम-कदम पर असफलता प्राप्त करते है। वे भूल जाते है कि —

"Self trust is the first secret of success" आत्मविश्वास ही सफलता का मुख्य रहस्य है।

आत्म-विश्वास मे वह शक्ति है जो सहस्र-सहस्र विपत्तियो का सामना करके भी उनपर विजय प्राप्त कर सकती है। क्योकि मनुष्य की समस्त मानसिक शक्तियाँ आत्म-विश्वास, साहस और धैर्य पर ही अवलम्बित रहती है। आत्म-विश्वास ही उन्नति की प्रथम सीढी और मनुष्य का सबसे बडा मित्र है। जो मनुष्य आत्म विश्वास से पूर्ण रहता है वह समस्त चिताओ और आशकाओ से मुक्त रहता है। कायर पुरुष उनसे दबे रहते हैं।

प्राय अज्ञानी व्यक्ति सफलता के रहस्य को ससार मे खोजते है किन्तु कही भी उन्हे वह प्राप्त नही होता। और प्राप्त हो भी कैसे ? क्योकि वह तो उनके अन्दर ही होता है। दृढ-निश्चय, प्रबल इच्छा शक्ति, असीम साहस और एकाग्रता यही सब सफलता की कुंजियाँ है। वे बाहर प्राप्त कैसे हो सकती हैं ? न हारनेवाली हिम्मत और प्रबल बल अपने मन मे ही जागृत किया जा सकता है। आत्म-विश्वास के विषय मे कहा गया है —

> जाके मन विश्वास है, सदा प्रभु के सग।
> कोटि काल झकझोल ही, तऊ न हो चित भग॥
> विश्वासी जो श्रम करे लोहा कचन होय।
> बाधाएँ सब दूर हों, दुख शोक नहि होय॥

इसलिये आत्म-विश्वास और पूर्ण श्रद्धापूर्वक मनुष्य को जीवन मे आने वाले पर्वताकार विघ्नो का भी सामना बिना हिचकिचाहट के करना चाहिये। दृढ आत्म-विश्वास मे महान विपत्तियाँ और भयकर व्याधियाँ भी परास्त हो जाती है। आत्म-विश्वासी पुरुष को 'असभव' शब्द को तो सर्वथा भूल ही जाना चाहिये। यह शब्द मनुष्य का सबसे भयकर शत्रु है। हिम्मतवान और दृढनिश्चयी के लिये ससार का कोई भी कार्य असभव नहीं है। असभव समझ कर चिन्ता, उद्वेग, घबराहट अथवा क्रोध मे आकर भी उसे अपने को शक्ति-

हीन मानकर अनुचित और आत्मा को गिरानेवाले हानिकर कार्य नही करने चाहिये।

आत्म-बल और अपने पुरुषार्थ के द्वारा ही मनुष्य असाध्य को साध्य बना सकता है और आत्म-बल आत्म-विश्वास के द्वारा अपने अन्दर से ही पैदा होता है। पुरुषार्थी व्यक्ति को किसी और की सहायता की अपेक्षा नही रहती।

एक बार भगवान महावीर वन मे ध्यानस्थ खडे थे। उसी समय एक ग्वाला आकर बोला—मेरे बैल यहाँ चर रहे हैं, ज़रा देखते रहना।

भगवान तो अपनी समाधि मे लीन थे। थोडी देर पश्चात् ग्वाले ने आकर देखा कि उसके बैल वहा नही थे और भगवान पूर्ववत् ध्यानस्थ थे।

ग्वाला इसपर अत्यन्त क्रोधित हुआ और भगवान महावीर को मारने के लिये उद्यत हो गया। यह देखकर इन्द्र स्वर्ग मे आए और उन्होंने ग्वाले को फटकार कर भगा दिया। तत्पश्चात् इन्द्र ने आकर भगवान से सविनय निवेदन किया—भते! आज्ञा हो तो मैं साधनाकाल मे आपकी सुरक्षा के लिये आपकी सेवा मे ही रहूँ?

महावीर का ध्यान उस समय तक पूर्ण हो चुका था। वे मुस्कराते हुए बोले—'देवेन्द्र! मुक्ति भी क्या किसी और की सहायता से प्राप्त की जा सकती है? कैवल्य तो सिर्फ अपने पुरुषार्थ और उस पर सपूर्ण विश्वास होने से ही प्राप्त हो सकता है। इन्द्र की सहायता से तो कोई भी तीर्थंकर मोक्ष पाने के लिये नही निकलता।' यह सुनते ही इन्द्र चुपचाप भगवान को वदन करके अपने स्थान के लिये रवाना हो गए।

अभिप्राय यह है कि आत्म-विश्वास से ही सब कुछ प्राप्त हो सकता है। आत्म-विश्वास से हीन व्यक्ति अपने लक्ष्य की ओर कदापि नही बढ सकता।

आत्मा की शक्ति के विकास का दूसरा साधन है 'आत्म-ज्ञान'। आत्म-ज्ञान का अर्थ है अपने शुद्ध या असली स्वरूप को पहचानना। मानव सदा दूसरो को जानने और समझने का प्रयत्न तो करता है किन्तु अपने स्वरूप को समझने का प्रयत्न नही करता। वह भूल जाता है कि "मैं कौन हूँ?" और "मेरा क्या स्वरूप है?" "मेरी शक्ति कितनी है?"

इन प्रश्नो का समाधान प्राप्त कर लेना ही वास्तव मे 'आत्म-ज्ञान' है।

मनुष्य की दृष्टि सदा बाहरी वस्तुओ की ओर रहती है। बाह्य पदार्थों मे वह मुग्ध रहता है। वह अपने अन्दर झांककर नही देखता कि मेरी अन्तरात्मा में कितनी बडी शक्ति और सुख का भडार भरा है।

आत्म-ज्ञान का सम्पादन करना तथा आत्म-केन्द्र मे स्थिर रहना मनुष्य का सर्वप्रधान कर्तव्य है। ससार एक स्वप्न के सदृश है। जिस प्रकार जाग जाने पर स्वप्न झूठा प्रतीत होता है उसी प्रकार आत्मज्ञान होने पर यह ससार निस्सार मालूम होता है। कहा भी है :—"जैसे स्वप्न मे काटे गए सिर का दु ख बिना जागे दूर नही होता, इसी प्रकार इस संसार का दु ख बिना आत्म-ज्ञान हुए दूर नही होता।"

सम्यक् ज्ञान पूर्वक आराधना करने पर ही समस्त कर्मों का नाश हो सकता है —

"ज्ञानाग्नि· सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात्।"

अर्थात्—ज्ञान रूप दिव्य अग्नि सभी कर्मो को भस्म कर देती है।

ज्ञान के द्वारा मन पूर्णतया पवित्र और शुद्ध बनता है और अन्त मे जीव अखण्ड और शाश्वत शाति प्राप्त करता है। जो आत्मा अपनी ज्ञान-शक्ति को ध्यान रूप योग की साधना मे व्यय करती है, वह सभी प्रकार के पापो से मुक्त हो जाती है। किसी कवि ने 'ज्ञान' का महत्व बडे सरल ढग से बताया है —

सच्चे आतम-ज्ञान बिन, दु ख नहि कभी नसाय।
कोटि यत्न करते रहो तम बिन दीप न जाय॥
सब शास्त्रन मे चतुर औ, चतुर वेद प्रिय वाक्।
ज्ञान विहीना जानिये दर्वी (करछुली) रस ज्यों पाक॥

अर्थात् जिस प्रकार दीपक के बिना अधकार का नाश नही होता उसी प्रकार आत्म-ज्ञान के बिना दु.खो का भी नाश नहीं हो सकता। मनुष्य कितना भी चतुर क्यो न हो, उसने कितने भी शास्त्र और वेदो का ज्ञान क्यो न कर लिया हो, लेकिन जबतक वह अपने स्वरूप को नही जान लेता, अपनी आत्मिक शक्ति को नही पहचान लेता, तबतक वह अन्य समस्त प्रकार की विद्याओ में पारगत होकर भी उसी प्रकार आत्मानद से रहित रहता है जिस प्रकार कि, करछुल अनेक प्रकार के व्यञ्जनो मे प्रविष्ट होकर भी उनके स्वाद से वञ्चित रहती है।

इसलिये प्रत्येक मानव को आत्म ज्ञान की प्राप्ति में तत्पर रहना चाहिये। इसके द्वारा ही वह 'स्व' और 'पर' को समझ सकता है तथा जान सकता है कि वास्तविक आनन्द का स्रोत कहाँ है ? बाहरी वस्तुओ मे अथवा स्वय उसकी आत्मा मे ?

आत्मसयम आत्म-विकास का तीसरा और अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन है। आत्म-सयम के बिना आत्म-विकास करना असभव है। मनुष्य को अपनी आत्म-शक्ति पर विश्वास हो, आत्म-ज्ञान भी उसे प्राप्त हो किन्तु अगर मन चपल हो और उसका आचरण असयत हो तो इन दोनो का होना न होना बराबर-सा ही है।

असयत व्यक्ति के मन मे निरतर कुप्रवृत्तियो की भावना उत्पन्न होती है। दुष्ट विचारो का प्रकोप होता रहता है। असयत पुरुष क्षणिक भावोद्वेग मे आकर ही अपने मार्ग से विचलित हो उठता है। आसुरी भावना और दुष्ट प्रवृत्तिया जागृत हो जाने के कारण वह न अपना हिताहित सोच पाता है और न दूसरो का ही। छोटी से छोटी घटना के होते ही वह धैर्य खो देता है और क्रोध तथा कषाय के वशीभूत हो जाने से उसकी बुद्धि का नाश हो जाता है। इसीलिये सुन्दर कवि कहते है —

> श्वान कहू कि शृगाल कहूं कि बडाल कहू मन की मति तैसी।
> ढेड़ कहू किधो डोम कहू किधो भाड कहू भण्डियावे जैसी॥
> चोर कहूं बटमार कहू ठगयार कहू उपमा कहू कैसी।
> सुन्दर और कहा कहिये अब या मन की गति दीखत जैसी॥

अर्थात् इस मन को मैं कुत्ता, गीदड, या बिलाव क्या कहू ? इसका स्वभाव तो इन सभी के जैसा है। अहकार और गर्व मे आकर यह इतना बढ चढकर आत्मप्रशसा करता है कि इसे भाड कहने की इच्छा होती है। अपने निकृष्ट स्वभाव के कारण यह ढेड और डोम की श्रेणी मे भी रखा जा सकता है। और सर्वदा औरो के धन को हथियाने की इसकी प्रवृत्ति के कारण समझ मे नही आता कि इसको चोर, बटमार या ठग किसकी उपमा दूं ?

असयत मन वाला व्यक्ति विचार तथा सयम के द्वारा मन की कुप्रवृत्तियो को रोकने मे असमर्थ होता है और सदा दूषित विचारो मे मग्न और दुष्कर्मों मे प्रवृत्त रहता है। उसका मन साधना, प्रार्थना, भजन, उपासना, जप या तप किसी मे भी संलग्न नही हो सकता क्योकि उसमे एक ही लक्ष्य

पर स्थिर रहने की क्षमता नही होती। हृदय मे काम, क्रोध, लोभ अथवा मोह जो भी विकार जागृत होता है उसी मे वह वह जाता है।

मन की चचलता के कारण कदाचित् वह एकान्त स्थान मे जाकर चिंतन अथवा ध्यान करे तब भी सफल नही हो पाता । असयत मन वाले मनुष्य की प्रकृति निरकुश बन जाती है। उसकी विचारशक्ति मे दृढता नही होती इसलिये मन्द विचारो का उसपर बहुत अधिक कुप्रभाव पडता है । निरर्थक विचार उसके मन मे विक्षेप, उत्पन्न करते हैं। ऐसा मनुष्य न अपने विचारो पर नियत्रण रख सकता है, न वाणी पर और न अपनी क्रियाओ पर।

असयत मन वाले पुरुष क्या नही कर बैठते ? तीव्र क्रोध मे आकर अनेक पुरुष अपनी पत्नियो को, पत्नियाँ पतियो को, सतान माता-पिता को और माता-पिता सतान को भी मार डालने मे नहीं हिचकिचाते। धनवान् पुरुष झूठे कागजात तैयार करते है, नौकरियाँ करने वाले रिश्वतें लेते है, व्यापारी वस्तुओ मे मिलावट करते हैं। इस प्रकार उनका मन सदैव कुक्रियाओ को करने का मौका खोजता रहता है। किन्तु इन सब के परिणाम स्वरूप भी उन्हे शाति प्राप्त नही होती। सुख का अनुभव नही होता। वे सदा ही व्याकुल, असतोषी और खेद-खिन्न बने रहते है। कभी भी उनका मन तृप्ति का अनुभव नही करता।

इसके विपरीत, सयमी पुरुष, सात्विक प्रवृत्ति वाले और निर्भीक होते हैं। कोई भी प्रलोभन उन्हे आकर्षित नही कर पाता, लालसाएँ उनके मन को प्रभावित नही करती और विरोधी परिस्थिति मे भी वे शात और प्रफुल्लित रहते है। दु ख-सताप और किसी प्रकार की भी आधि-व्याधि उन्हें व्याकुल और उद्विग्न नही बना पाती।

क्रोध की अग्नि उनके शान्ति-सागर मे आकर बुझ जाती है, लोभ का विषैला बाण उनकी सतोष रूपी दीवार को भेद नही पाता, मान और मद उनकी विनीत प्रकृति को चलायमान नही करते, राग-द्वेष उनकी स्थिरता और दृढता को नष्ट नही कर सकते तथा विषय-वासनाओ के तीर उसके सयम रूपी कवच पर लग कर स्वय ही खडित हो पाते हैं।

कहने का तात्पर्य यही है कि सयमी अर्थात् पवित्र हृदय वाले पुरुष दुर्विचारो मे वहकर कभी अपनी आत्मा को कलकित नही करते। वे सदा अपना

तन, मन और धन औरो की मेवा मे अर्पण करने के लिये उद्यत रहते हैं। दूसरो के द्वारा अनिष्ट किये जाने पर भी वे उनका अनिष्ट नही करते।

कहते हैं हजरत मुहम्मद रोज मसजिद मे नमाज पढने जाया करते थे। रास्ते मे एक बुढिया रहती थी। वह प्रतिदिन उनपर कचरा-कूडा इकट्ठा करके डाल दिया करती थी। मुहम्मद साहब रोज यह कष्ट सहते और भगवान से प्रार्थना करते कि वह उसे सद्बुद्धि दे।

एक दिन जब हजरत नमाज पढने गए तो बुढिया उन्हे दिखाई नही दी और न ही उसने उनपर कूडा डाला। तब वे उस बुढिया के घर मे चले गए। मालूम हुआ कि बुढिया बीमार है। हजरत मुहम्मद अपना सब कार्य छोडकर उसकी परिचर्या मे लग गए। बुढिया ने जब उन्हे इस प्रकार तीमारदारी करते देखा तो वह शर्म से पानी-पानी हो गई और उनके धर्म मे दीक्षित हो गई। मन पर सयम हुए विना इस प्रकार की उदारता और शान्ति सभव नही।

लोग प्राय कहते हैं कि कलिकाल आ गया है, इस कारण मनुष्यो की प्रवृत्तियाँ वदल गई है। लोग पैसे के लिये हाय-हाय करते हैं। न वे नीति-अनीति का विचार करते है और न पाप-पुण्य की परवाह करते हैं। किसी भी उपाय से उन्हे पैसा मिल जाना चाहिये। पैसा मिल गया तो समझते हैं हैं कि परमात्मा मिल गया। धन के लिये वे बुरे से बुरा कार्य करने मे भी सकोच नही करते। कहा भी गया है।

अर्थार्थी जीवलोकोऽयं, श्मशानमपि सेवते।
जनितारमपि त्यक्त्वा नि स्व गच्छति दूरतः॥

—पचतत्र

अर्थात् इस ससार मे धन की कामना करने वाला मनुष्य श्मशान का भी सेवन करता है और धन से रहित होने पर अपने जन्म देने वाला माता-पिता को भी दूरसे ही त्याग कर चला जाता है,

आजकल ऐश्वर्य और भोग-विलास के साधनो की धूम मची हुई है। नित नए फैशनो का आविष्कार होता जा रहा है। मनुष्य फैशन के पीछे पागल होकर अपनी प्राचीन सादगी और सभ्यता को खोते जा रहे हैं। धन के पीछे आज का मानव अन्य किसी भी वस्तु का महत्व नही समझता। धन ही उसके लिये सब कुछ होता है। उसका लक्ष्य सिर्फ धन प्राप्त करना और उसके द्वारा इन्द्रियो के भोगोपभोग के साधन जुटाना ही होता है।

भले ही धन का तीव्र प्रवाह उसके अन्य सब गुणो को बहाकर उससे दूर कर दे। किसी विद्वान् ने कहा है —

"Money is a bottomless sea, in which honour, concsience and truth may be drowned"

यानी-धन अथाह समुद्र है जिसमे इज्जत, अन्त करण और सत्य सभी डूब सकते हैं।

धन को ही सर्वस्व मानने वाले व्यक्ति आँख मूंदकर उसके वश मे हो जाते हैं और अपने जीवन का निरर्थक बना लेते है। वे यह नही सोचते कि हमे मनुष्य-भव किसी प्रयोजन की पूर्ति के लिये प्राप्त हुआ है। इस जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिये? और उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये किन साधनो का उपयोग करना चाहिये?

बिरले व्यक्ति ही इन बातो पर विचार करते हैं और वे धीर, वीर और सयमी पुरुष ही जीवन के रहस्य को समझ पाते हैं। आशा और तृष्णा पर विजय प्राप्त करते हैं। ससार सम्बन्धी मोह को त्याग कर आत्मा को भव-बधनो से मुक्त करने लिये जुट जाते है। आत्म सयम के द्वारा ही उनका चित्त निर्मल, भावनाएँ पवित्र, विचार शुद्ध और क्रियाएँ निष्कपट होती हैं। सँयमी व्यक्ति ही मोह से रहित और विकारो से विहीन हो सकते हैं। उनके हृदयो मे प्राणी मात्र के प्रति अपार करुणा तथा प्रेम की भावना पैदा हो जाती है। आत्म-सयम के बिना यह सभव नही है। सयम के बिना आत्मशक्ति नही बढ सकती। शुद्ध तथा सयमित मन एक दैवी सम्पदा की तरह होता है। यह एक ऐसा उपहार है जिसे राजा और रक सभी समान भाव से प्राप्त कर सकते हैं।

सयमी पुरुष के हृदय मे घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, भय, चिन्ता, शोक, शका तथा निराशा आदि उद्वेगो के लिये कोई स्थान नही होता। क्योकि उसका हृदय तो प्रेम, शान्ति, सतोष, निर्भयता, हर्ष, श्रद्धा, विश्वास आदि सद्‌गुणो से परिपूर्ण रहता है। सयमी पुरुष ही शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करके ईश्वरीय नियमो के अनुसार जीवन व्यतीत करता है और शनै· शनै कर्म-बन्धनो का समूल नाश करके शाश्वत सुख प्राप्त करता है।

बन्धुओ! आशा है, आप आत्म-विश्वास, आत्म-ज्ञान और आत्म-सयम के महत्व को भलीभाति समझ गए होगे। और यह भी समझ गए होगे कि

अगर मनुष्य हिम्मत न हारे और सतत प्रयत्न करता रहे तो वह अवश्य ही एक दिन अपनी आत्मा को परमात्मा के पद पर आसीन कर सकता है। आवश्यकता अखड उत्साह और तीव्र लगन की है।

पुरुषार्थी मनुष्य को प्रथम तो अपने विश्वास, बल और सयम पर दृढ रहते हुए आत्मोन्नति करते रहने का प्रयत्न करना चाहिये। दूसरे, कभी भी परमात्मा को विस्मरण नही करना चाहिये। जो पुरुष सदैव ईश्वर का स्मरण करता है वह पाप-कर्मों से डरता हुआ शुभ कर्मों को करने मे तत्पर रहता है।

मुक्ति को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को अलग से प्रयत्न करने की आवश्यकता नही होती। सत्पथ पर चलने वाले तथा सदा शुभ कर्मों मे रत रहने वाले प्राणी को मुक्ति स्वय ही प्राप्त हो जाती है। मुक्ति का मार्ग हृदय की पवित्रता तथा शुभ-कार्य ही हैं।

हिम्मत न हारने वाला तथा पूर्ण विश्वास सहित आत्मा को उन्नत बनाने वाला व्यक्ति ही अपने भविष्य को अपने अनुकूल बना सकता है। विश्वास एक ऐसा सम्बल है, जिसे साथ लेकर चलने वाले व्यक्ति के मार्ग की समस्त विघ्न बाधाएँ स्वय ही दूर हो जाती हैं।

जिसका विश्वास मर जाता है और हिम्मत हार जाती है वह मनुष्य भस्त्रा की तरह श्वास लेता हुआ भी निर्जीव के समान ही रहता है। इसलिये प्रत्येक अनुकूल व प्रतिकूल परिस्थिति मे मनुष्य को चाहिये कि वह कभी हिम्मत न हारे। धन, वैभव, स्वजन, स्नेही और भोगोपभोग के समस्त साधनो का नाश हो जाने पर भी अगर मनुष्य के हृदय मे हिम्मत अथवा दूसरे शब्दो मे साहस विद्यमान रह जाता है तो उस महान शक्ति के बल पर ही वह आत्मा को चरम उन्नति की ओर ले जाने मे समर्थ हो सकता है और अन्त मे परम-धाम मोक्ष को निश्चय ही प्राप्त कर सकता है।